लघुपाराशरी

संस्कृत टीका और हिन्दी-भावानुवाद-सहित
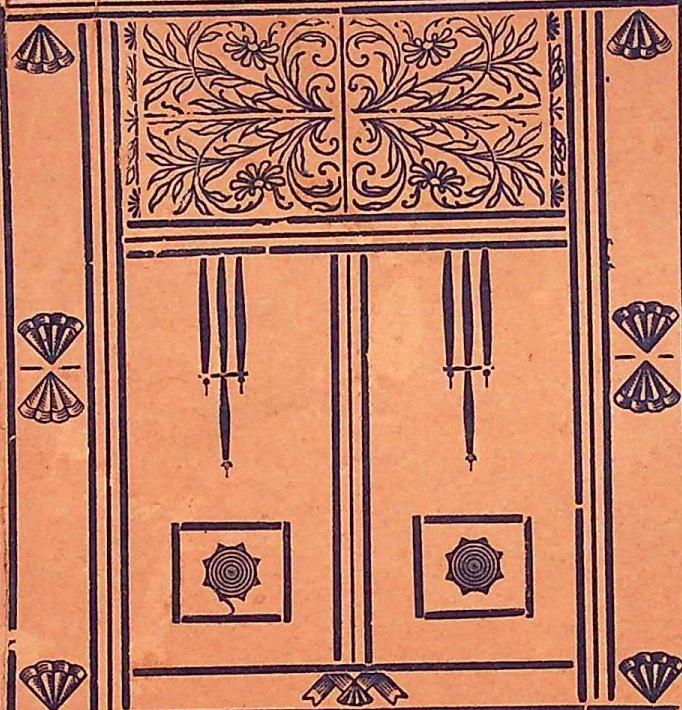
प्रकाशक—

नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ.

लघुपाराशरी

(उद्योत, सज्जनरञ्जनी, सुश्लोकशतक टीका)

और

हिन्दी भावानुवाद, परिशिष्टसहित

संपादक,

श्रीगिरिजाप्रसाद द्विवेदी

प्रधान, ज्योतिःशास्त्राध्यापक,

महाराज संस्कृत कालेज, जयपुर

प्रकाशक—

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

प्रथम बार] १९४१ [मूल्य ।।)

श्रीकेसरीदास सेठ द्वारा

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में मुद्रित

सन् १९४१ ई०

अध्याय-सूची

नाम	पृष्ठ

* वक्तव्य *

यह लघुपाराशरी भारतीय फलित-विद्या का एक सर्वमान्य महत्त्व का ग्रंथ है। इसका पराशरमुनि के सम्बन्ध से आर्षग्रन्था के समान आदर है और भारतवर्ष की चारों दिशाओं में पठन-पाठन का प्रचार है। प्राचीन फलित-ग्रन्थों में बृहज्जातक, बृहत्संहिता, सारावली, सर्वार्थचिन्तामणि आदि के विविध विषयों के विचार, अधिकांश में विश्वासकारक और प्रामाणिक हैं। शेष जितने छोटे-बड़े फलित ज्योतिष के निबंध हैं, वे सब अपने पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों के मतों के आधार पर रचे गये हैं और इधर-उधर के विभिन्न विषयक श्लोकों के, पर विश्वास पर, संग्रह स्वरूप हैं। इन संग्रह ग्रन्थों की बाढ़ से बहुत गड़-बड़ी मची और जातकस्कन्ध के शुद्ध स्वरूप में, यामलोक्त ज्योतिष का संक्रमण करने-कराने से, एवं ताजिक के लोभ में पड़ने से और इन दोनों से फल किंवा मुहूर्तादि के स्वतन्त्र विचारों को घसीट कर मिला-देने से, फलित की व्यवस्था और उससे आत्मविश्वास को कड़ा धक्का लगा। इन्हीं परंपरागत कारणों से वर्तमान में भारत के प्रान्तों में फलित-सम्बन्धी प्रत्येक विषय के विचारों में वैषम्य उपस्थित है। परन्तु यह प्रवाह सांप्रत में पञ्चाङ्ग के निरयण-सायन के प्रपञ्च के समान कभी मिटता नहीं जान पड़ता। इसके सिवा पाश्चात्य मतानुसार सायनगणनानुकूल फलादेश का विभिन्न विचार भी प्रचार में आ गया है। पर फलितवादियों को इसकी परीक्षा करके एक मत स्थिर नहीं करना है। और यह भी प्रकट है कि कुण्डली-जन्मपत्री के कोई असली-स्वरूप नहीं देखे जाते।

आदि, मध्य और अब प्रायः अंत का स्वरूप विचारने से, विभिन्न निर्माणशैली सिद्ध है एवं किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के अनुसार फला-देश के उपयुक्त गणित नहीं रहता। जन्मपत्री क्या वर्षपत्री दोनों में इच्छाचार है। राजपूताना में यवन साम्राज्यकाल से वर्षपत्री का अधिक प्रचार है। यह जिस मत से बनती है वह 'ताजिक' नाम से प्रसिद्ध है। नीलकण्ठी ज्योतिषियों के कण्ठ में लिपटी ही है। प्राचीनकाल में ग्रहगोचरफल और प्रश्न से सब काम चलता था, पर अब उधर दृष्टि नहीं। भारवि कवि ने 'किरातार्जुनीय' काव्य में लिखा है—

'नवैर्गुणैः संप्रति संस्तवस्थिरं
तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः।'

ठीक है। देश-कालानुसार विषयों का आदर होता ही आया है।

अब समय ने भारतीय-संस्कृतपाठशालाओं में परीक्षा पाठ्य को, अन्य विषयों के साथ, ज्योतिष सम्बन्धी भी क्या गणित क्या फलित दोनों को, विकृत और भारभूत कर दिया है। विद्वानों के संकीर्ण विचारों ने सफलता का मार्ग मलिन कर दिया है। इस दशा में अपेक्षित सुधार भी भविष्य के गर्भ में जा छिपा है। पर उचित शास्त्रीय संशोधनों के विना इस समय प्राचीन या, नवीन मतों की स्थिरता नहीं होती। किसी भी विषय के मूल-क्षेत्र का शोधन सदा से—स्वरूप रक्षा के साथ—होता आया है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक की प्रस्तावना में—'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्......सन्तः परीक्ष्या-न्यतरद् भजन्ते।' लिखा प्रसिद्ध है। और आचार्य वराहमिहिर भी बृहत्संहिता में कहते हैं—

'प्रायेण सूत्रेण विना कृतानि
प्रकाशरन्ध्राणि चिरंतनानि।

रत्नानि शास्त्राणि च योजितानि
नवैर्गुणैर्भूषयितुं क्षमाणि ॥'

इस आचार्य की हितकारिणी वाणी का पालन होना परमावश्यक है। अस्तु,

यह भारतीय फलितविद्या इस देश के ऋषियों और मुनियों के द्वारा उन की आध्यात्मिक भावनाओं और ज्ञानदृष्टि से आविर्भूत है। सृष्टि के आदि से मानवीय वर्ग की उत्पत्ति के साथ प्राकृतिक घटनाओं का नित्य और नैमित्तिक भाव से शुभाशुभ अथवा. अनुकूल, प्रतिकूल किंवा, सुख, दुःख रूप से प्राणिमात्र से सम्बन्ध चला आता है। प्रकृति में जो कुछ है, जो घटनाएँ होती हैं, उन्हीं का थोड़ा-बहुत फल प्राणियों को अनुभूत होता है, क्योंकि यह विश्व किंवा ब्रह्माण्ड प्रकृति के भीतर ही है, बाहर नहीं। इस बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक-युग में ऋषियों-मुनियों के आविष्कृत पञ्चभूतों के संश्लिष्ट और विश्लिष्ट नैसर्गिक गुण-धर्म, कार्य-कारण भावों के परिणामों के सूक्ष्म परीक्षण और निरीक्षण द्वारा अभ्रान्त रूप से सिद्ध एवं स्थिरभाव को प्राप्त हैं। इस देश की प्राचीन अर्थात् वैदिकयुग की आकर्षणशक्ति ने अपना सत्य-स्वरूप न्यूटन गणितज्ञ (१६८० ई०) के द्वारा प्रकट करके विज्ञ समाज को चकित किया। पञ्चभूतों की अमोघशक्तियाँ ग्रहपिण्डों के द्वारा मानवदेह अथवा यों कहा जाय कि स्थावर-जङ्गम अजड़-जड़ सबको वशवर्ती किये हैं। दार्शनिक-विचारों के आधार पर, घटनाओं का पूर्वज्ञान करा देना इस फलितविद्या का प्रधान उद्देश्य है। इस में जन्मान्तरवाद के आधार पर, दृष्ट और अदृष्ट दो प्रकार के प्राणियों के शुभाशुभ भोग अदृष्ट (दैव) और पौरुष के समन्वय के साथ हैं। कालपुरुष के अङ्ग होने से ग्रह-नक्षत्रों के संनिवेश वश, दृष्ट किंवा अदृष्ट

दोनों फल ज्ञात होते हैं और अनुकूल-फल साधन के लिए उपाय का भी विचार है। इसी अभिप्राय से बृहस्पति का वचन है—

'स्वभावादेव कालोऽयं शुभाशुभसमन्वितः।
अनादिनिधनः सर्वो न निर्दोषो न निर्गुणः॥'

आचार्य वराहमिहिर भी 'लघुजातक' में कहते हैं—

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पक्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्, तमसि द्रव्याणि दीप इव॥'

अर्थात् जैसे दीपक का प्रकाश अंधकार में वस्तुओं को प्रकट कर देता है अर्थात् उसकी सत्ता को भूमि (आधार) पर दिखा देता है, वैसे ही प्राणियों के जन्मान्तर के कर्मफलों को ग्रहगण, नियमानुसार प्रकट कर देते हैं। इसी अदृष्टवाद के तत्त्व को लेकर आयुर्वेद में भी असाध्य किंवा साध्य रोगों का विधान किया है और रोगों की स्थिति को ग्रहयोगों से प्रकट किया है। आचार्यों ने अनेक श्लोक लिखे हैं। अस्तु, इन पूर्वोक्त विषयों का विचार 'ग्रहलाघव' कर्ता गणेशदैवज्ञ ने भारद्वाजगोत्र-औदीच्य श्री केशवार्क दैवज्ञकृत 'विवाहवृन्दावन' की टीका के आरम्भ में किया है। जिन को आधुनिक वैज्ञानिक रीति से ग्रहों का मानवीय सम्बन्ध जानना हो वे मद्रास के श्री बी० सूर्यनारायण राव बी० ए० लिखित अंग्रेजी निवन्ध * देखें, परन्तु जैसा कि ऊपर लिखा गया है, इन्हीं भारतीय विचारों का ही आधार है। यहाँ यह भी लिखना अनुचित न होगा कि इस समय पाश्चात्य ज्योतिषी भी इस विद्या की सत्यता को जान एवं मान गये हैं और अनेक ग्रंथ लिखे हैं। पञ्चाङ्ग भी फलित का स्वतन्त्र है। युरोप के बड़े फलितज्ञ राफल, स्टेपहर्ड, एलन लिओ प्रसिद्ध हैं। एलन लिओ

* "Introduction to the study of Astrology in the Light of Physical Science", Madras 1903.

(Allan Leo) के एक महानिबन्ध ("Astrology For All") की प्रस्तावना से नीचे एक उद्धरण दिया जाता है—

"It is certain that the truth may be found in this science, if any one will seek laboriously in it without any hate. The result gained from it, no doubt, has proved its highest sentiment and perception of our ancient sages."

अर्थात् अवज्ञा दृष्टि को छोड़कर, परिश्रम से यदि इस विज्ञान की सत्यता को खोजा जाय तो हमारे पूर्वज ऋषियों के उच्चकोटि के विचार और अनुभव, निःसंदेह सत्य प्रमाणित होंगे।

अब विचारणीय यह है कि जिस देश की जो विद्या है, उसकी रक्षा रखना और उसमें समयोचित शोधन करना, उस देश के विवेकी विद्वानों का परम कर्तव्य है। भविष्य में अन्धविश्वास मात्र से निर्वाह कठिन है। भारतीय विद्याएँ सदा से गुरुमुख से ज्ञात की जाती थीं, इस समय के जैसा केवल भाषानुवाद देखकर स्वयं ज्ञाता होने का कोई साधन नहीं था। जैमिनि, पराशर, गर्ग, वसिष्ठ, नारद, कश्यप आदि के सभी ग्रंथ किसी रूप में प्राप्त हैं। इनसे आवश्यक विषयों की परीक्षा के बिना व्यवहार दशा में बहुत धोखा है।

प्रकृत में 'लघुपाराशरी' किसी दूरदर्शी विद्वान् की कृति है। पराशर के नाम से बृहत्संहिता की विवृति में भट्टोत्पल ने आदि में गद्य रूप कई अवतरण दिये हैं, एक 'बृहत्पाराशरहोरा प्रकाशित है, जिसमें पूर्वापर विरुद्ध बहुत अशुद्ध प्रक्षेप आदि हैं, और अमान्य हैं। एक पराशरजातक और सूत्र का भी प्राचीन टीका ग्रंथों में नाम मिलता है। कुछ वर्षों से काशी से एक 'मध्य पाराशरी' भी भाषानुवाद के साथ प्रकट हुई है। इन सबको

देखने से आर्ष, अनार्ष किंवा प्रक्षेप का विवेक एवं पाराशर के वास्तविक मन्तव्यों का ठीक पता ही नहीं चलता। जैसे 'कलौ पाराशरी स्मृतिः' का डंका बजाया गया है वैसे फलित ज्योतिष के लिए कोई वाक्य भी नहीं प्रसिद्ध है। इसीलिए 'सिद्धान्ततत्त्व-विवेक' कर्ता कमलाकर आदि को भावसाधन के प्रपंच को उठाकर 'पराशरो नरः कश्चित् पराशर इवाबभौ' इत्यादि लिखना पड़ा। वृद्धवसिष्ठ और गर्ग के समान वृद्धपराशर भी संहिता और जातक में स्वच्छन्द हैं। इधर 'जैमिनिसूत्र' की दशा भी वृद्ध-कारिकाओं से घिर जाने से संकीर्ण है। इसका विचार 'जैमिनि-पद्यामृत' में महामहोपाध्याय श्री ६ दुर्गाप्रसाद द्विवेदीजी ने किया है, जो बंबई के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित है। इसकी व्यवस्था और उपयोग में भी अनेक असुविधाएँ हैं, इसीलिए आयुर्दाय और दो, चार सीधी बातें जन्मपत्र में कहीं मिलती हैं, शेष विस्तार का कोई विशेष प्रचार नहीं है।

इस प्रकार दूर तक विचार करने पर, वर्तमान में आर्ष, अनार्ष मतों और वचनों का जातक अर्थात् होरा और संहिता दोनों स्कन्धों में अनर्गल प्रवाह सिद्ध होता है और उसी में भ्रान्त होकर वर्तमान दैवज्ञ विचरण करते हैं। इस दशा में भी बृहज्जातक, सारावली, सर्वार्थचिन्तामणि, होरारत्न और जैमिनिपद्यामृत के पठन और मनन से समस्त विचार किसी रूप में स्थिर होते हैं और छात्रों को भी लाभदायक हैं। जन्मपत्री के फलादेश लिखने को 'जातकाभरण' व्यवस्थित है। आचार्यों ने ग्रहयोगज फल को ही मुख्य माना है, जैसा कि ऊपर के लिखित ग्रन्थों में और इस लघुपाराशरी में है। उसी के साथ स्थानिक इष्टकाल, स्वदेशोदय एवं लग्नशुद्धि के सूक्ष्मतत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है, केवल स्टांडर्ड टाइम (standard time) से उपपत्ति सिद्ध अशुद्धि होती है।

जैसा कि पहले वक्तव्य के आदि में भी लिखा है, इस 'लघुपाराशरी' का इस देश में चिरकाल से प्रचार है और पराशर के जातक समुद्र को मथकर चालीस श्लोक रत्न रूप निकाले गये हैं, 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' की बात चरितार्थ है। इसपर कई टीका, टिप्पणी यहाँ तक कि नाम बदल कर, दक्षिण देश में दूसरे ग्रंथ तक बने हैं, जो कि मद्रास गवर्नमेंट के हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्र * से ज्ञात होता है। और विविध हिन्दी, बंगला, मराठी एवं गुजराती भाषा में अनुवाद होना तो, इस समय स्वाभाविक है। अस्तु, इस चालीस श्लोक के सूत्र-रूप ग्रन्थ का, जैसी कि मर्यादा है, गुरुमुख से पठन आवश्यक है क्योंकि यह उपन्यास नहीं। पर वर्तमान में, केवल भाषा माहात्म्य में पढ़ने से अनर्थ है—इस विचार से प्रामाणिक और आवश्यक अङ्गभूत विषयों से पूर्ण विद्वानों की तीन टीकाएँ मूल ग्रन्थ के साथ लगाई हैं। जैसा—

१—'उद्योत' भैरवदत्तकृत।

२—'सज्जनरञ्जनी'

३—सुश्लोकशतक।

इनमें भैरवदत्त की टीका काशी और बंबई में पहले छपी है और यत्र, तत्र अशुद्ध भी है, यथा संभव शोधन किया गया है। दूसरी 'सज्जनरञ्जनी' सं० १९३२ श्रा० कृ० १ चन्द्रवार, की लिखी है जो संभवतः अभी प्रकाशित नहीं है। यह मेरे मित्र जयपुर के प्रसिद्ध ज्योतिष-यन्त्रालय (वेधशाला) के प्रधान आचार्य पं० श्रीकेदारनाथजी ज्योतिष-साहित्यभूषण ने कृपा करके दी है और इसके विषय में कहा है:—"परमसुखोपाध्याय रचित 'रमलनवरत्न'

---

* "A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Mss. in the Government Oriental Library, Madras". By S. Kuppuswami Sastri, M. A. Vol. XXIV (Jyotish) P. 9234.

के संस्कर्ता गोस्वामी रङ्गलालजी के पुत्र, श्रद्धास्पद, पीयूषपाणि पं० प्यारेलालजी गोस्वामी, नारनौल (पटियाला-राज्य) निवासी के पुस्तकालय से चि० फतेचन्दजी ने, जो गोस्वामीजी के पौत्र हैं, मुद्रणार्थ मेरे को दिया है।"

अलवर-राजकोय लिखित संस्कृत पुस्तकों के मुद्रित सूचीपत्र में † भी 'सज्जनरञ्जनी' है और उसके अन्त में जो श्लोक हैं उनसे ज्ञात होता है—कनोज प्रान्त में खोरग्राम के निवासी, भारद्वाजगोत्र, पाण्डे उपनामक, नेपाल राज्यमान्य, कृष्णानन्द के पुत्र लक्ष्मीपति ने इसको बनाई है। अब भी कान्यकुब्जों में 'खोर के पांडे' प्रसिद्ध हैं। इन दोनों पुस्तकों में मङ्गलाचरण और अन्त के श्लोकों में नाममात्र का भेद है। यह लक्ष्मीपति की 'सज्जनरञ्जनी' वास्तव में अपने नाम को सार्थक करती हुई प्रौढ़ता और गुरुपरंपरा के गूढ़ार्थों का भी आदेश करती है।

तीसरी 'सुश्लोकशतक' मिट्ठनलाल कान्यकुब्ज कृत अनुष्टुप्-छन्दों में है। यह भैरवदत्त किंवा लक्ष्मीपति को भी पछाड़ देने-वाली, बहुत ही सारगर्भित एवं सुगमता से कूटार्थों को खोलनेवाली है। इससे विचारों में स्थिरता और विश्वास जमता है। यह टीका पुस्तक मेरे 'सरस्वती-पीठ' जयपुर के पुस्तकालय की है। खेद है कि उक्त तीनों टीकाकारों ने अपने समय का उल्लेख नहीं किया, जैसी कि प्राचीन भारतीय-परिपाटी है। तथास्तु

उक्त तीनों संस्कृत टीकाओं के बाद हिन्दी में भावानुवाद और 'परिशिष्ट' भी लगाया गया है, जिससे साधारण ज्ञानवाले भी

---

† "Catalogue of the Sanskrit Mss. in the Library of H. H. the Maharaja of Alwar". By Peter Peterson, M. A., D. Sc, Bombay 1892.

ऊट-पटांग के अर्थों में न फँसें और पढ़नेवाले छात्रों को भी सहायता मिले। अन्त में आशा है कि फलितविद्या के प्रेमी महानुभाव बड़े किंवा छोटे सभी इस संपादित ग्रन्थ को अपना कर, मेरे प्रयत्न को सफल करने में उदासीन न होंगे।

"सरस्वती-पीठ"
जयपुर.
सं० १९९७ फा० कृ० ८ बुधवार
ता० १९।२।१९४१ ई०

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

श्रीः

लघुपाराशरी

भैरवदत्तसूरिकृतोद्योतसहिता

प्रारभ्यते ।

श्रीलक्ष्मीरमणं गणेशमभयं श्रीमद्गुरुं शारदां
सूर्यादिग्रहमण्डलं सविनयं नत्वा विदां प्रीतये ।
ज्योतिःशास्त्रकलाकुतूहलरतिः तत्तत्प्रबन्धानहं
वीक्ष्योद्योतमिमं तनोमि विशदं दायप्रदीपेऽमलम् ॥

परमसुखमुदारं ज्ञातसच्छास्त्रसारं
विजितभवविकारं व्यक्तमुक्तिप्रकारम् ।
श्रुतिनयनविचारं भूरिशिष्यप्रचारं
गुरुमविनयहारं दृष्टपारं स्मरामः ॥

क्वाहं मन्दमतिः क्व शास्त्रधिषणा साध्यं सतां संमतं
ज्योतिःशास्त्रविविक्तादिष्टजफलं क्वासौ तदर्थोद्यमः ।

तानेव स्मृतिगोचरान् गुरुकृपापीयूषधाराधरान्
मन्ये हार्दकुबोधवह्निबहुलज्वालैकनिर्वापकान् ॥

अथ तावत् पौर्वदेहिकधर्माधर्माधीनजन्मनो जीवजातस्यानागतधर्माधर्मफलविवक्षया नानाजातकशास्त्राणि परमर्षयः प्रणिनिन्युः । तत्र परमकारुणिको भगवान् पराशरः प्रारब्धस्य फलानुमेयतया फलव्यभिचारेऽनुमानव्यभिचारात् पूर्वाचार्याणां ग्रन्थेष्वनुमानानामसत्त्वमालोचयन् जातकविशेषं प्रणिनाय । तमेव जातकविशेषं 'कलौ पाराशरीस्मृतिः' इति न्यायसामान्यादव्यभिचारितफलत्वात् सिद्धान्तं मन्यमान आचार्य उडुदायप्रदीपाख्यं ग्रन्थं चिकीर्षुस्तत्समाप्तिप्रतिबन्धकप्रत्यूहव्यूहाविहतये मङ्गलमाचरति स्म—

सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरं महः किञ्चिद्वीणाधरमुपास्महे ॥ १ ॥

सिद्धान्तमित्यादि । सिद्धः शाश्वतो निर्णीतः अन्तो निश्चयो यस्य स तथा तं वयमुपास्महे । इष्टाधिगमहेतुमानसः प्रत्ययप्रवाह उपासना, तद्विषयीकुर्म इत्यर्थः । ननु शास्त्रबहुत्वात् बहवः सिद्धान्ताः, तत्र कतमः सिद्धान्त उपास्यत इत्यत आह—औपनिषदमिति । वेदान्तवाक्यान्युपनिषदस्तत्प्रतिपाद्यमित्यर्थः । ब्रह्मस्वरूपमिति भावः । ननु निर्विशेषं ब्रह्मवेदान्तप्रतिपाद्यं तत्कथमुपासनीयमविषयत्वादित्यत आह—शुद्धान्तं परमेष्ठिन इति । परमेष्ठिनः शुद्धान्तमिति योजना । जगत्स्रष्टा परमेष्ठी तस्य शुद्धान्तमतः परं वाणीरूपमित्यर्थः । शुद्धान्तश्चावरोधश्चेत्यमरः । ननु पूर्वविशेषण-

विशिष्टवाक्यसंदर्शरूपवाण्युपास्यते उतास्त्याकारविशेष इत्यत आह—शोणाधरमिति । शोणा आरक्तोऽधरो यस्य, अधर-शब्दोऽत्र लक्षणयाधरोष्ठबोधको नत्वोष्ठे रूढः । उत्तरोष्ठा-धरोष्ठयोरित्यादावोष्ठपदवैयर्थ्यात् तेन शोणौ रक्तावोष्ठौ यस्येति कस्यचिद्विवरणं परास्तम् । तदनेन साकारता दर्शिता । नन्वेवं प्राकृतत्वापत्तिरत आह—मह इति । तेजोरूपमित्यर्थः । ननु ज्वलनादिः स्यादत आह—किञ्चिदिति । अनिर्वचनीयमित्यर्थः । नन्वात्मानमुपासीते-त्यादिश्रुतेरात्मन उपासनमुचितं मोक्षहेतुत्वात्—तत्किं वाण्युपासनेनेत्यत आह—वीणाधरमिति । मोक्षप्रयोजक-नादहेतुवाद्यविशेषो वीणा तस्या धरं धारकमित्यर्थः । वीणाधारणक्रियाकर्तृत्वेनात्मत्वात्तदुपासनं श्रुतिसिद्धमिति भावः । वीणाशब्देन स्वरतालादिकमुपलक्ष्यते तेन तद्र-सिकत्वोक्त्या मोक्षप्रदत्वं व्यज्यते ।

'वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ॥'

इति याज्ञवल्क्योक्तेः । वीणां दधातीति तु न विग्रहः, कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्ययप्रसङ्गेन वीणाधारमित्यापत्तेः । एतेन वीणां दधातीति कस्यचिद्व्याख्यानमपास्तम् ॥ १ ॥

वयं पाराशरीं होरामनुसृत्य यथामति ।
उडुदायप्रदीपाख्यं कुर्मो दैवविदां मुदे ॥ २ ॥

अथ चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य नामनिर्देशश्चिकीर्षितं प्रतिजानीते—वयमिति । बहुवचनमस्मदोद्वयोश्चेत्यत्र चका-

रेणैकस्मिन्नपीत्यस्यानुकर्षणात् । पाराशरीं पाराशरेण प्रोक्ता पाराशरी तां होरां लग्नशास्त्रं लग्नस्यार्धं भवेद्धोरेत्युक्तेर्होराशब्दस्य लग्नार्द्धवाचित्वेऽपि लग्नशास्त्रलक्षकत्वात् । तथा च पाराशरोक्तं शास्त्रमनुसृत्य पर्यालोच्य यथामति अध्ययनभावनाभ्यां परिनिष्पन्नां बुद्धिमनतिक्रम्य उडुदायप्रदीपाख्यं उडवो नक्षत्राणि तेषां दायाः फलानि देयभागस्य दायपदार्थत्वात् । तेषां प्रकाशकत्वात् । प्रदीप इवोडुदायप्रदीपः स आख्या यस्य तं कुर्मो विरचयामः । कस्मै प्रयोजनायेत्यत आह—दैवविदां मुद इति । प्रारब्धं कर्म दैवं तद्विदन्तीति दैवविदस्तेषां मुदे हर्षायेति ॥ २ ॥

फलानि नक्षत्रदशाप्रकारेण विवृणमहे ।
दशा विंशोत्तरी चात्र ग्राह्या नाष्टोत्तरी मता ॥ ३ ॥

अथ नक्षत्रप्रयोज्यफलप्रकाशत्वं ग्रन्थनामनिर्वचनव्याजेन प्रतिज्ञातं तदेव विशदीकरोति फलानीत्यादिना । प्रारब्धवशादवश्यंभावीनि सुखदुःखफलानि तद्धेतुभूतानि राज्यस्त्रीपुत्रधनादीनि च विवृणमहे विवेचयामः । विविच्य प्रकाशयामः । इति यावत्केन प्रकारेणेत्यत आह—नक्षत्रदशाप्रकारेणेति । नक्षत्राधीशा नक्षत्रदशा तस्याः प्रकारो भेदस्तेनेत्यर्थः।ननु दशा द्विविधा—विंशोत्तरी अष्टोत्तरी च तत्रैका दशाग्राह्येत्यत आह—दशाविंशोत्तरीत्यादिस्पष्टोऽर्थः । अथ कश्चिद्योगिनीदशा दिनापि फलं ब्रूयात्तत्प्रतिषेधार्थमाह—नाष्टोत्तरीति । अष्टोत्तरीदशात्र शास्त्रे न ग्राह्या फलव्यभिचारादिति भावः । विंशोत्तरीदशा च ग्रन्थान्तरे—

'तनुनयसितजायातोपि धन्यासटासा ।
नख इति गदिता सा भास्करादिक्रमेणेति ॥'

अत्र कादि नव, टादि नव, पादि पञ्च, याद्यष्टाविति वर्गचतुष्टयं शिवताण्डवादिषु व्यक्तम् तदनुसरणात्तनु शब्देन षट्, नयशब्देन दश, सितशब्देन सप्त, जायाशब्देनाष्टादश, तोपि शब्देन षोडश, धन्याशब्देनैकोनविंशतिः सटाशब्देन सप्तदश, साशब्देन सप्त, नखशब्देन विंशतिः, एते क्रमेण भास्करादीनां दशावर्षा भवन्ति । भास्करादयश्च—

'रविश्चन्द्रः कुजो राहुर्गुरुर्मदो बुधस्तथा । केतुर्भृगुसुतश्चापि दशाधीशा अमी क्रमादिति ॥' ग्रन्थान्तरोक्ताः ।

अत्रास्मदीयः श्लोकः—

'रसदशाद्रिपुराणमहीभृतो
विधुविहीननखा अगभूमयः ।
गिरिनखारविचन्द्रकुजागुयु-
ग्गुरुशनिज्ञककेतुसिताब्दकाः ॥' इति—

दशाज्ञानप्रकारस्तु ग्रन्थान्तरे—

'नयनोनजनुर्भतोऽङ्कहृत्क्रमशोऽर्केन्दुकुजागुसूरयः ।
शनिचन्द्रजकेतुभार्गवाःपरिशेषास्तुदशाधिपाःस्मृताः'इति।

अयमर्थः नयनाभ्यां द्वाभ्यां ऊनं यज्जनुर्भं जन्मनक्षत्रं तत्र नवभिः हरणकर्ता यः क्रमेण क्रमेणेत्यर्थः । अर्थात्कृत्तिकामारभ्य गणनायामर्कादिक्रमप्राप्तो यो जन्मनक्षत्रे ग्रहस्त-

स्यैव दशा जन्मदशा भवति। तथा च कृत्तिकोत्तराफाल्गुन्युत्तराषाढासु जन्मवतो रवेर्दशा षड्वर्षभोग्या भवति। तदुत्तरेषु नक्षत्रेषु चन्द्रमसो दशा दशवर्षभोग्या भवतीत्यादि रीत्या दशा ज्ञातव्या।

अत्राप्यस्मदीयः श्लोकः——

'कृत्तिकादिनवकात्रिके क्रमात्सूर्यचन्द्रकुजराहुमन्त्रिणः।
सौरिसोमसुतकेतुभार्गवा भवप्रवर्तितदशाब्दनायकाः' इति॥

तत्र भुक्तायाः दशायाः प्रयोजनाभावाद्भोक्तव्यायाः फलं वाच्यम्।

तदुक्तं लघुजातकाभरणे——

'निजजन्मनि यादिमा दशा जनिभस्यैतघटी समाहता।
सकलर्क्षघटीविभाजिता जनि भुक्तादिदशा मता ततः।
अवशिष्टदशाफलं वदेत्परिशेषेषु यथोक्तवर्षकैः' इति॥

अयमर्थः स्वस्य जन्मनो या प्रथमा दशा षड्वर्षादिरूपा सा जन्मनक्षत्रगतघटीभिर्गुणनीया तत्र जन्मनक्षत्रसकलघटीभिर्भागतो यल्लब्धं तदेव भुक्तदशा भवति, यदवशिष्टं सा भोक्तव्या भवति। भुक्तवर्षैर्दशावर्षेषु भागे यत्परिशिष्टं तेषु सर्वेषु फलं वाच्यम्। अयं भुक्तभोग्यविचारोऽन्तर्दशाज्ञानार्थः।
भुक्तभोग्यज्ञानाभावे दशामात्रफलवचनसंभवेऽप्यन्तर्दशाफलवचनासम्भवात्। अतः सूक्ष्मदशाज्ञानार्थमन्तर्दशाद्यानयनमावश्यकम्। तत्प्रकारस्तु ग्रन्थान्तरे——

'स्वदशा रामगुणिता तद्दशा गुणिता पुनः ।
खरामभागतो लब्धं फलं मासादिकं भवेत् ॥'

यद्दशामध्येऽन्तर्दशा समानेया सा त्रिगुणिता यः पिण्डो भवति तं ध्रुवं कृत्वा तत्तद्दशाभिर्गुणयेत्तत्र च त्रिंशता भागे हृते यल्लब्धं तन्मासादिकं बोद्धव्यम् । यथा सूर्यदशायां सूर्यान्तर्दशा समानेया तत्र सूर्यदशात्रिगुणिता १८ अष्टादश-रूपा अयमेव पिण्डः । सूर्यदशावर्षैः षड्भिर्गुणितोष्टोत्तरं शतं १०८ तत्र त्रिंशता भागे लब्धास्त्रयस्ते मासा भवन्ति । अवशिष्टा दश तानि दिनानि भवन्ति । तथा चाष्टादशदिना-धिकास्त्रयो मासा रवेरन्तर्दशा भवति । एवमष्टादशात्मकः पिण्डो यदि चन्द्रदशया गुणयते तदा षट् ६ मासाश्चन्द्रमसो-ऽन्तर्दशा भवति ।

अनया रीत्या चत्वारो मासा षट् दिनानि भौमस्य, दश मासाश्चतुर्विंशतिदिनानि राहोः, नवमासा अष्टादश-दिनानि गुरोः, एकादशमाशा द्वादशदिनानि शनेः, दश-मासा षट् दिनानि बुधस्य, चत्वारो मासा षट् दिनानि केतोः, वर्षमेकं शुक्रस्येति, इति रविदशामध्ये रव्याद्यन्तर्दशा-निरूपणम् ।

एवमेव चन्द्रादिदशामध्ये चन्द्राद्यन्तर्दशानयनं प्रका-रान्तरञ्च ।

'रामैर्हताश्चार्कमुखग्रहाणां दशाब्दकास्ते दिवसा भवन्ति ।
दशासमानां खलु षष्ठभागः शुक्रस्य भुक्तिः सकलग्रहेषु ॥
दशेश्वरादिनैर्हीना शुक्रभुक्तिर्भवेच्छनेः ।

सैव हीना दशानाथदिनैश्चागोः स्मृता हि सा॥
रहिता चैव सा ज्ञेया चन्द्रजस्य तु तैर्दिनैः।
एवं हीना च सा ज्ञेया दशानाथदिनैर्गुरोः॥

अगोस्त्रिभागं रविभुक्तिमाहुः
शुक्रस्य चार्धं हिमगोर्भवेत्सा।
युता दशानाथदिनैरवेस्तु सा,
भुक्तिर्भवेच्चैव कुजस्य केतोः॥

एवं समस्तग्रहभुक्तयस्तु कार्या दिनेशादिखगेश्वराणाम्॥'

अयमर्थः सकलग्रहाणां दशादेः षष्ठांशः शुक्रस्यान्तर्दशादिः, अयं दशेश्वरदिनैर्हीनः शनेः, सोऽपि दशेश्वरदिनैर्हीनो राहोः, अयमपि तैरेव हीनो बुधस्य, बुधस्यापि तैर्दिनैर्हीनो गुरोः, राहोस्तृतीयांशः सूर्यस्य, दशेश्वरदिनैर्युक्तोऽयं भौमस्य, अयमेव केतोरिति।

अत्रापि सूक्ष्माकांक्षायां विदशानयनं कथं कर्तव्यम्। तत्प्रकारो ग्रन्थान्तरे—

'भृगोर्नखांशैर्विदशा विधेया
रीत्योक्तया वै रविजादिकानाम्।
भृगोस्तु षष्ठांशमुशन्ति तज्ज्ञा
राहोस्त्रिभागं रविभुक्तिरेवम्॥
अर्धं भृगोः स्याद्रजनीकरस्य
कुजस्य केतोश्च पुरेव साध्या।'

अयं भावः—ग्रहाणामन्तर्दशादेः षष्ठांशो भृगोर्विदशा एषा नखांशैर्हीना शनेरित्यादि पूर्ववत् ।

अस्मद्गुरुचरणास्तु उक्तेषु प्रयासगौरवं क्रमव्यत्यासं च मत्वा सुगमं प्रकारमाहुः । तथाहि—

'स्वैः स्वैर्दशाब्दैर्गुणितं दशादिवर्षादिकं विंशतियुक्शतेन ।
भवेच्च लब्धं तु निजान्तरान्तर्दशादिमानं कथितं ग्रहाणाम् ॥'

अयमर्थः यस्य दशायामन्तर्दशा नेया तद्दशावर्षादिकमानीय ग्रहदशावर्षादिभिर्गुणयेत् । यथा रविदशायां रवेरन्तर्दशा नेया तत्र रविदशाब्दे रविदशाब्दगुणे षट्त्रिंशत् ३६ तेषां महा दशाब्दैर्भागानर्हत्वाद्द्वादशभिर्गुणयेत् तदा द्वात्रिंशदुत्तरं चतुः-शतं ४३२ तत्र विंशत्युत्तरशतेन भागे लब्धास्त्रयस्ते मासा भवन्ति शिष्टाद्द्वासप्ततिस्तांस्त्रिंशता गुणयित्वा महा-दशाब्दैर्भागे लब्धा अष्टादश १८ ते दिवसाः । एतावती सूर्यदशायां सूर्यस्यान्तर्दशा भवति । एवं सूर्यदशावर्षात् चन्द्रदशावर्षैर्गुणयेत् तत्पूर्ववद्भागादिक्रमेण चन्द्रमसोऽन्तर्दशा भवति तथा भौमादीनामपि । इति भागयोगत्वार्थं वर्षाणि द्वादशभिर्गुणयेन्मासा भवन्ति, मासांस्त्रिंशता गुणयेद्दिनानि भवंति, तान्यपि षष्ठ्या गुणयेत् घटिका भवन्ति, एवमग्रेऽपि ।

तदिदमाहु :—

'दशा चान्तर्दशा चैव विदशोपदशा तथा ।
प्राणाख्या च फलं तासां वदेच्छास्त्रानुसारतः' ॥६॥

अथास्मिन् शास्त्रे यत्र विशेषोनोपदिश्यते तत्सामान्य-शास्त्रतो ज्ञातव्यमित्याह—

बुधैर्भावादयः सर्वे ज्ञेयाः सामान्यशास्त्रतः ।
एतच्छास्त्रानुसारेण संज्ञां ब्रूमो विशेषतः ॥४॥

बुधैरिति । ज्योतिःशास्त्रविज्ञैरित्यर्थः । भावादयः भावा आदयो येषां ते । भावाश्च तनुधनसहजसुखसुतरिपुजायामृत्युधर्मकर्मायव्ययाख्याः । आदि शब्दाद्राश्यादयः ते च मेषवृषमिथुनकर्कसिंहकन्यातुलावृश्चिकधन्विमकरकुंभमीनाख्या एषां स्वभावाश्च । सर्वे इति । अत्रानुक्तविचाराययुक्ताः सर्वे पदार्थाः सामान्यशास्त्रतः यवनाचार्याद्युक्तजातकशास्त्राज्ज्ञेयाः ज्ञातव्याः । ग्रहाणां स्वभावाः तत्फलानि चेत्यर्थः । तत्र रव्यादयो ग्रहाः तेषां स्वभावा दीप्तत्वादयस्तदुक्तम्—

'दीप्तः स्वस्थः प्रमुदितः शान्तो दीनोऽतिदुःखितः ।
विकलश्च खलः कोपी नवधा खेचरो भवेत् ॥
उच्चस्थः खेचरो दीप्तः स्वस्थः स्वपतिमित्रभे ।
मुदितो मित्रभे शान्तः समभे दीन उच्यते ॥
शत्रुभे दुःखितोऽतीव विकलः पापसंयुतः ।
खलः खलग्रहे ज्ञेयः कोपी स्यादर्कसंयुतः ॥
पृथक् पृथक् फलं तेषां दशापाके विशेषतः ।
उत्तमाद्यनुरोधेन फलपाके वदन्ति हि ॥'

इत्यादि । फलं त्वग्रे वक्ष्यामः । एतच्छास्त्रानुसारेणेति अस्मिन्पाराशरे शास्त्रे काचित्संज्ञा सामान्यशास्त्रीय संज्ञापेक्षया भिन्नास्ति, तां विशेषतः विशेषरूपेण ब्रूमः, अनुपदं वक्ष्यामः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेतिसूत्रबलात्

वर्तमानवत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः ॥ ४ ॥ अस्मिन् शास्त्रे यो विशेषस्तमाह—

पश्यन्ति सप्तमं सर्वे शनिजीवकुजाः पुनः ।
विशेषतश्च त्रिदशत्रिकोणचतुरष्टमान् ॥ ५ ॥

पश्यन्तीति । सर्वे रव्यादयो ग्रहाः सप्तमं पश्यन्ति स्वाधिष्ठितस्थानात्सप्तमं स्थानं तत्संस्थं ग्रहं च पश्यन्ति । यद्यपि सामान्यशास्त्रादिदमपि ज्ञातुं शक्यं तथापि चरणदृष्टिप्रतिषेधार्थमिदं, पूर्णदृष्टिं ज्ञात्वैव दृष्टिफलं वाच्यं नतु चरणदृष्ट्यापीति भावः । विशेषान्तरमाह—शनिजीवकुजाः पुनरितित्वर्थे शनिजीवकुजास्तु क्रमेण त्रिदशत्रिकोणचतुरष्टमान् चाप्यर्थेऽपि पश्यन्ति । अयमर्थः शनिस्तावत्त्रिदशं तृतीयं दशमं चकारात्सप्तमं स्थानं पूर्णमेव पश्यति, जीवः त्रिकोणपदवाच्यं पञ्चमं नवमं सप्तमं च पूर्णं पश्यति, कुजश्चतुर्थमष्टमं सप्तमं च पूर्णमेव पश्यति । इदमपि चरणदृष्टिप्रतिषेधार्थं, अन्यथा सामान्यशास्त्रत एव दृष्टिलाभे पुनर्दृष्टिविधानवैयर्थ्यात् ।

त्रिदशं च त्रिकोणं च चतुरष्टमं चेतिविग्रहः, तेन शनिजीवकुजानां क्रमेणान्वयः। यद्यपि त्रयश्च दशचेति विग्रहकरणात् यथासंख्यासंभवेन सर्वत्रैव शनिजीवकुजानामन्वयः संभवति तथापि अविवक्षितत्वान्न तथान्वय इति संप्रदायविदः ॥ ५ ॥

अथ शुभग्रहाणां शुभफलप्रदत्वमशुभग्रहाणामशुभफलप्रदत्वमिति सकलशास्त्रसिद्धं तत्र बुधगुरुशुक्रा अक्षीणचन्द्रश्च शुभग्रहाः रविकुजमन्दा राहुकेतुक्षीणचन्द्राश्चाशुभग्रहाः, इति सामान्यशास्त्रं तस्यापवादार्थमाह—

सर्वे त्रिकोणनेतारो ग्रहाः शुभफलप्रदाः।
पतयस्त्रिषडायानां यदि पापफलप्रदाः॥ ६॥

सर्व इति। नवपञ्चमयोस्त्रिकोणसंज्ञा नतु नवमपञ्चमराश्योर्नेतारोऽधीश्वरा ग्रहास्ते सर्वे शुभफलदायका भवन्ति। त्रिकोणाधीशत्वेन सप्तानामेव ग्रहाणां शुभत्वम्। एवं तयो राहुकेत्वोर्ग्रहयोराश्यनधीशत्वान्न ग्रहणम्। तेन नवग्रहा इति कस्यचिद्व्याख्यानमपास्तम्। अशुभग्रहा अपि त्रिकोणनेतृत्वेन निमित्तेन शुभग्रहा भवन्ति। शुभग्रहास्तु कैमुतिकन्यायेन शुभतरा इति भावः। यदि सप्तैव ग्रहास्त्रिषडायानां तृतीयषष्ठैकादशानां पतयः स्युस्तदा पापफलप्रदा एव। त्रिषडायपतित्वेन निमित्तेन शुभग्रहा अपि पापग्रहा एव भवन्ति किमुत पापग्रहा इति भावः। अत्र त्रिकोणनेतारो यदि त्रिषडायानां पतयः इति योजनां केचिद्वर्णयन्ति तन्न त्रिकोणनेतुस्त्रिषडायनेतृत्वासंभवात्। संभवे वा सकलफलविरोधादविवक्षितत्वात्।

राश्यधीशास्तु ग्रन्थान्तरे—
'मेषवृश्चिकयोर्भौमः शुक्रो वृषतुलाधिपः।
बुधः कन्यामिथुनयोः कर्काधीशस्तु चन्द्रमाः॥
धनुर्मीनाधिपो जीवः शनिर्मकरकुंभयोः।
सिंहस्याधिपतिः सूर्यो राश्यधीशा इमे स्मृताः' इति॥ ६॥

अथापरं विशेषमाह—

न दिशन्ति शुभं नृणां सौम्याः केन्द्राधिपा यदि।

क्रूराश्चेदशुभं ह्येते प्रबलाश्चोत्तरोत्तराः ॥ ७ ॥

न दिशन्तीति । सौम्याः शुभग्रहाः चन्द्रबुधशुक्राः यदि केन्द्राधिपतयः लग्नचतुर्थसप्तमदशमपतयः स्युस्तदा शुभफलं न दिशन्ति न प्रयच्छन्ति । शुभा अपि केन्द्राधिपतित्वेन निमित्तेन अशुभमेव कुर्वन्तीत्यर्थः । क्रूराश्चेदिति, चेद्यदि क्रूरा अशुभत्वेनाख्याताः सूर्यभौमशनयः केन्द्रपतयः स्युस्तदा अशुभं न दिशन्ति । अशुभा अपि केन्द्राधिपतित्वेन निमित्तेन शुभमेव दिशन्ति प्रयच्छन्तीति भावः ।

अथैषां बलाबलमाह--

एते त्रिकोणपतयस्त्रिषडायपतयः केन्द्रपतयश्च उत्तरोत्तरं प्रबला बलवन्तो भवन्ति पञ्चमेशनवमेशयोर्मध्ये नवमेशः प्रबलः । तथा तृतीयेशात्षष्ठेशः प्रबलः, षष्ठेशादेकादशेशः प्रबलः, एवं लग्नेशाच्चतुर्थेशः प्रबलश्चतुर्थेशात्सप्तमेशः प्रबलः, सप्तमेशाद्दशमेशः प्रबल इति बोध्यम् । तथा च यो ग्रह उक्तरीत्या बलवांस्तस्यैव फलं वाच्यं नान्यस्येति भावः । अत्र त्रिकोणाधिपत्रिषडायाधिपयोर्मध्ये त्रिषडायाधिप एव प्रबलस्तथापि केन्द्राधिपः प्रबलः । कथनक्रमे उत्तरत्वादिति विवेकः ॥ ७ ॥

अथ सम्बन्धवशादपि ग्रहाणां शुभाशुभफलप्रदत्वमाह—

लग्नाद्व्ययद्वितीयेशौ परेषां साहचर्यतः ।
स्थानान्तरानुगुण्येन भवतः फलदायकौ ॥८॥

लग्नादिति । लग्नं प्रसिद्धं जन्मलग्नमारभ्य गणनया व्ययद्वितीयेशौ द्वादशद्वितीयराशिस्वामिनौ परेषां अन्य-

ग्रहाणां साहचर्यतः सहावस्थानात् । अयमर्थः—शुभग्रह-साहचर्ये सति द्वितीयद्वादशेशयोः शुभफलप्रदत्वम्, अशुभग्रह-साहचर्ये तु अशुभफलप्रदत्वम् । इदमपि यस्मिन् भावे तावुभौ तिष्ठतस्तद्भावद्वारैव दद्त इत्याह स्थानान्तरानुगुण्येनेति । अन्यस्थानं स्थानान्तरं तस्य आनुगुण्यं शुभत्वादि तेन अयं भावः । मित्रादिस्थानस्थत्वे मित्रादिद्वारा शुभफल-प्रदत्वम् । शत्रुभावस्थत्वे शत्रुद्वारैवाशुभप्रदत्वम् । एवं ग्रहान्तरस्य दीप्तत्वादिगुणयोगाच्छुभाशुभफलप्रदत्वमिति । दीप्तत्वादिप्रयुक्तं फलमुक्तं ग्रन्थान्तरे—

'पाके प्रदीप्तस्य धराधिपत्यमुत्साहशौर्ये धनवाहने च ।
स्त्रीपुत्रलाभं शुभबन्धुपूज्यं क्षितीश्वरान्मानमुपैति विद्याम् ॥
स्वस्थस्यखेटस्यदशाविपाकेस्वस्थोनृपाल्लब्धधनादिसौख्यम्
विद्यां यशः प्रीतिमहत्त्वमाराद्दारार्थभूम्यादिजधर्ममेति ॥
मुदान्वितस्यापि दशाविपाके वस्त्रादिभूगन्धसुतार्थधैर्यम् ।
पुराणधर्मश्रवणादिलाभं वस्त्रादियानाम्बरभूषणाप्तिम् ॥
दशाविपाके सुखधैर्यमेति शान्तस्य भूपुत्रकलत्रयानम् ।
विद्याविनोदान्वितधर्मशास्त्रं बह्वर्थदेशाधिपपूज्यतां च ॥
स्थानच्युतिर्बन्धुविरोधता च दीनस्य खेटस्य दशाविपाके ।
जीवत्यसौ कुत्सितहीनवृत्त्या त्यक्तो जनै रोगनिपीडितःस्यात्
दुःखार्दितस्यापि दशाविपाके नानाविधं दुःखमुपैतिनित्यम् ।
विदेशगो बन्धुजनैर्विहीनश्चौराग्निभूपैर्भयमातनोति ॥
वैकल्यखेटस्य दशाविपाके वैकल्यमायाति मनोविकारम् ।

मित्रादिकानां मरणं विशेषात् स्त्रीपुत्रयानाम्बरचोरपीडाम्॥
दशाविपाके कलहं वियोगं खलस्य खेटस्य पितुर्वियोगम्।
शत्रोर्जनानां धनभूमिनाशमुपैति नित्यं स्वजनैश्च निन्दाम्॥
कोपान्वितस्यापि दशाविपाकेपापाःसमायान्ति बहुप्रकारैः।
विद्याधनस्त्रीसुतबन्धुनाशं पुत्रादिकृच्छ्रंत्वथनेत्ररोगमिति॥'

एवं स्थानान्तरानुगुण्येन व्ययाद्वितीयेशयोः फलं वक्तव्यम् ८॥
अथ स्वजन्मलग्नादष्टमेशस्य शुभाशुभत्वमाह—

भाग्यव्ययाधिपत्येन रन्ध्रेशो न शुभप्रदः।
स एव शुभसंधाता लग्नाधीशोऽपि चेत्स्वयम्॥९॥

भाग्येति। भाग्याद्व्ययः नवमाद्द्वादशः अर्थादष्टमस्तस्याधिपत्यं स्वामित्वं तेन निमित्तेन रन्ध्रेशोऽष्टमेशः न शुभप्रदो भवति। भाग्यव्यययोराधिपत्येनेति तु न व्याख्येयम्, अष्टमेशस्य व्ययेशत्वमसंभवात्। केचित्तु अष्टमादष्टमस्यापि रन्ध्रत्वातिदेशात्तृतीयेशोऽपि रन्ध्रेशः स च पुनर्व्ययेशः संभवति कर्कस्य लग्नत्वे बुधः, मकरस्य लग्नत्वे गुरुः सोऽयं भाग्यव्ययाधिपत्येनाशुभ इत्यर्थः। यद्यष्टमेशस्य निमित्तवशादशुभत्वमुच्यते तथा तृतीयेशस्याप्यशुभत्वे निमित्तं वाच्यम्। तदेवानेनोच्यते—यदि तत्र नोच्यते तर्हीहापि न वाच्यम्। रन्ध्रेशो न शुभप्रद इति। एतावतैतात्सिद्धेरिति प्राहुः स एवेति रन्ध्रेश एव स्वयं लग्नाधीशोऽपि चेत्तदा शुभसंघाता शुभस्यैव कारको भवति, अष्टमेशत्वदोषस्तस्य नास्तीति भावः॥ ९॥

अथ केन्द्रेशत्वं सौम्यग्रहाणामशुभमित्युक्तं तत्र गुरुशुक्रयोर्विशेषमाह—

केन्द्राधिपत्यदोषस्तु बलवान् गुरुशुक्रयोः।
मारकत्वेपि च तयोर्मारकस्थानसंस्थितिः॥१०॥

केन्द्राधिपत्येति। लग्नचतुर्थसप्तमदशमेशत्वप्रयुक्तो दोषो गुरुशुक्रयोरेव बलवान्। गुरुशुक्रौ केन्द्राधिपती चेत्तदा न दिशन्ति शुभं नृणामित्यादिनोक्तो दोषो बलवान् अतिशयेन बलिष्ठो भवति। अत्रापि विशेषमाह मारकत्वेपीति। तयोः केन्द्राधिपतित्वविशिष्टयोर्गुरुशुक्रयोर्मारकस्थानसंस्थितिर्लग्नात्सप्तमद्वितीयस्थानसंस्थितिर्मारकत्वे बलवती, अन्यापेक्षया तयोरेव मारकत्वमिति भावः। सप्तमद्वितीययोर्मारकस्थानत्वं वक्ष्यति॥१०॥

अथ बुधचन्द्रयोः केन्द्राधिपत्यदोषो नास्तीति पूर्वश्लोकस्य तुशब्देन ज्ञापितं तं तत्र विशेषमाह—

बुधस्तदनु चंद्रोपि भवेत्तदनु तद्विधः।
न रन्ध्रेशत्वदोषस्तु सूर्याचन्द्रमसोर्भवेत्॥११॥

तदनु। तस्माच्छुक्रादनन्तरं बुधस्तद्विधः केन्द्राधिपत्यदोषवान् गुरुशुक्रापेक्षया किञ्चिन्न्यूनदोषवान् तदनु बुधादप्यनन्तरं चन्द्रोऽपि तद्विधः केन्द्राधिपत्यदोषवान् बुधापेक्षयान्यूनदोषवान्। मारकस्थानसंस्थितिरपि गुरुशुक्रापेक्षया बुधस्य दुर्बला बुधापेक्षया चन्द्रस्य दुर्बला, इति च बोध्यम्। अथ भाग्यव्ययाधिपत्यप्रयुक्तो रन्ध्रेशस्य दोष उक्तस्तत्रापवादमाह—

न रन्ध्रेशत्वेति । सूर्याचन्द्रमसो रन्ध्रेशत्वदोषस्तु न भवेत् । सूर्याचन्द्रमसौ जन्मलग्नादष्टमाधीशौ भवतस्तदा तयोरष्टमेशत्वदोषो न भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अथ क्रूराणां केन्द्राधिपतित्वेन शुभकारित्वं पूर्वमुक्तं तत्र भौमविषये विशेषमाह——

कुजस्य कर्मनेतृत्वप्रयुक्ता शुभकारिता ।
त्रिकोणस्यापि नेतृत्वे न कर्मेशत्वमात्रतः ॥ १२ ॥

कुजस्येति । कुजस्य भौमस्य कर्मनेतृत्वप्रयुक्ता शुभकारिता तदा स्याद्यदि भौमस्त्रिकोणस्यापि नेता स्यादित्यर्थः । त्रिकोणनेतृत्वाभावे तु कर्मनेतृत्वमात्रेण न शुभकारित्वम् । कर्कलग्ने यस्य जन्म तस्यायं योगः । वृश्चिकस्य पञ्चमत्वेन मेषस्य दशमत्वेन भौमस्य तदीशत्वादिति । एवं सर्वे त्रिकोणनेतार इत्यारभ्य सप्तानां ग्रहाणां शुभाशुभत्वमुक्तम् तत्र मेषादिभावेषु जन्मवतां यस्य ग्रहस्य पापत्वं यस्य वा शुभत्वं यस्य च योगकारकत्वं तत्सर्वं संगृहीतं पाराशरीये——

मंदसौम्यसिताः पापाः शुभौ गुरुदिवाकरौ ।
न शुभं योगमात्रेण प्रभवेच्छनिजीवयोः ॥
परतंत्रेण जीवस्य पापकर्मापि निश्चितम् ।
कविः साक्षान्निहन्ता स्यान्मारकत्वेन लक्षितः ॥
संघातयोर्निहन्तारो भवेयुः पापिनो ग्रहाः ।
शुभाशुभफलान्येवं ज्ञातव्यानि क्रियोद्भवे ॥

इति मेषजन्मनः फलम् । अथाग्रे वृषस्य—

जीवशुक्रेन्दवः पापाः शुभौ शनिशशीसुतौ ।
राज्ययोगकरः साक्षादेक एव रवेः सुतः ॥
जीवादयो ग्रहाः पापाः संति मारकलक्षणाः ।
बुधस्तत्र फलान्येवं ज्ञेयानि वृषजन्मनः ॥

इति वृषलग्नजातफलम् । अथाग्रे मिथुनस्य—

भौमजीवारुणाः पापा एक एव कविः शुभः ।
शनैश्चरेण जीवस्य योगो मेषभवो यथा ॥
नायं शशी निहन्ता स्यादुन्मिषत्पापनिष्फलम् ।
ज्ञातव्यानि दिनेशस्य फलान्येतानि सूरिभिः ॥

इति मिथुनभावफलम् । अथाग्रे कर्कस्य—

भार्गवेन्दुसुतौ पापौ भूसुतांगिरसौ शुभौ ।
एक एव ग्रहः साक्षाद्भूसुतो योगकारकः ॥
निहन्ता रविजोऽन्ये तु मानिनो मारकाह्वयाः ।
कुलीरसंभवस्यैव फलान्युक्तानि सूरिभिः ॥

इति कर्कजन्मनः फलम् । अथाग्रे सिंहस्य—

रौहिणेयसितौ पापौ कुज एव शुभग्रहः ।
प्रभवेद्योगमात्रेण न शुभं कुजशुक्रयोः ॥
घ्नन्ति सौम्यादयः पापा मारकत्वेन लक्षिताः ।
एवं फलानि वेद्यानि सिंहे यस्य जनुर्भवेत् ॥

इति सिंहजन्मनः फलम् । अथाग्रे कन्यायाः—

कुजजीवेन्दवः पापा एक एव भृगुः शुभः ।
भार्गवेन्दुसुतावेव भवेतां योगकारकौ ॥
निहन्ता कविरन्ये तु मारकास्तु कुजादयः ।
प्रतीक्षेत फलान्युक्तान्येवं कन्याभवे बुधैः ॥

इति कन्याजन्मफलम् । अथाग्रे तुलायाः—

जीवार्कमहिजाः पापाः शनैश्चरबुधौ शुभौ ।
भवेतां राजयोगस्य कारकौ चन्द्रतत्सुतौ ॥
कुजो निहन्ति वाद्यानि परे मारकलक्षणाः ।
निहन्तारः फलान्येवं काव्येन तु तुलाभुवः ॥

इति तुलाजन्मफलम् । अथाग्रे वृश्चिकस्य—

सौम्यभौमसिताः पापाः शुभौ गुरुनिशाकरौ ।
सूर्याचन्द्रमसावेव भवेतां योगकारकौ ॥
जीवो निहन्ता सौम्याद्या हन्तारो मारकाह्वयाः ।
तत्तत्फलानि विज्ञेयान्येवं वृश्चिकजन्मनः ॥

इति वृश्चिकजन्मफलम् । अथाग्रे धनुषः—

एक एव कविः पापः शुभौ सौम्यदिवाकरौ ।
योगो भास्करसोमाभ्यां निहन्ता भास्वतः सुतः ॥
घ्नन्ति शुक्रादयः पापा मारकत्वेन लक्षिताः ।
ज्ञातव्यानि फलान्येवं चापजस्य मनीषिभिः ॥

इति धनुर्लग्नजातफलम् । अथाग्रे मकरस्य—

कुजजीवेन्दवः पापाः शुभौ भार्गवचन्द्रजौ ।
स्वयं चैव निहन्ता स्यान्मन्दो भौमादयः परे ॥
तत्तल्लक्षणान्निहन्तारः कविरेकः सुयोगकृत् ।
ज्ञातव्यानि फलान्येवं विबुधैर्मृगजन्मनः ॥

इति मकरजन्मफलम् । अथाग्रे कुम्भस्य—

जीवचन्द्रकुजाः पापा एको दैत्यगुरुः शुभः ।
राजयोगकरो भौमः कविश्चैव बृहस्पतिः ॥
निहन्ता घ्नन्ति भौमाद्या कारकत्वेन लक्षिताः ।
एवमेव फलान्यूह्यान्येतानि घटजन्मनः ॥

इति कुम्भजन्मफलम् । अथाग्रे मीनस्य—

मंदशुक्रांशवः सौम्याः पापा भौमविधू शुभौ ।
महीसुतगुरोर्योगे कारणेनैव भूसुतः ॥
मारकाः कारका वीक्ष्य मंदज्ञौ घ्नन्ति पापिनः ।
इत्यूह्यानि फलान्येवं बुधैस्तु मीनजन्मन इति ॥१२॥

अथ राहुकेत्वो राश्यधीशत्वाभावात्कुत्रास्थितयोः किं फलं कथं वा शुभाशुभं ज्ञातव्यमित्याकांक्षायामाह—

यद्यद्भावगतौ वापि यद्यद्भावेशसंयुतौ ।
तत्तत्फलानि प्रबलौ प्रदिशेतां तमोग्रहौ ॥१३॥

यद्यदिति । तमोग्रहौ राहुकेतू यद्यद्भावगतौ अपि यद्यद्भा-

वेशसंयुतौ वा स्यातां तत्तत्फलानि प्रबलावतिशयेन प्रदिशेतां ददत: । अयमर्थ: यस्य यस्य ग्रहस्य यो यो भाव: स्थानं स ग्रहो यत्फलं ददाति तत्फलमेव प्रदिशेतां प्रकर्षेणैव ददत: । यत: प्रबलौ प्रकर्षेण बलवन्तौ स्वाभाविकबलवत्त्वं तयो: प्रकर्षस्तद्भावेशग्रहापेक्षया तयोर्बलवत्त्वात् । अथवा यद्भावेश-संयुतौ स्यातां स च भावेश: स्वस्य यथाफलं दिशति तथैव तस्य भावस्य फलं प्रकर्षेण दिशेताम् संयुताविति संबन्धश्चतुर्विध इति वक्ष्यते ॥ १३ ॥

इति श्रीभैरवदत्तविरचिते उडुदायप्रदीपोद्योते संज्ञाध्याय: ॥१॥

अथ योगाध्याय: ।

तत्र सामान्ययोगानाह—

केन्द्रत्रिकोणपतय: सम्बन्धेन परस्परम् ।
इतरैरप्रसक्ताश्चेद्विशेषफलदायका: ॥१४॥

केन्द्रत्रिकोणपतय इति । केन्द्रपतयस्त्रिकोणपतयश्च परस्परं अन्योन्यं संबन्धेनेति संबन्धश्चतुर्विध: । अन्योन्य-राशिस्थितत्वं प्रथम:, यथा मेषे वृश्चिके वा सूर्य: भौमस्तु सिंहेऽस्ति तदा सूर्यभौमयो: संबन्ध: । परस्परदृष्टिसंबन्धो द्वितीय:, यथा मेषे भौमस्तुलायां सूर्यस्तौ परस्परं पश्यत: । अन्यतरदृष्टिसंबन्धस्तृतीय:, यथा सिंहे भौम: मीने स्थितं सूर्यं पश्यति भौमं तु सूर्यो न पश्यति । चतुर्थस्तु सहाव-स्थान लक्षण:, यथा भौमसूर्यौ वृषराशिस्थितौ इति । अत्र पूर्व: पूर्व: संबन्धो बलवान् बोध्य: । तथा केन्द्रत्रिकोणपत्यो: परस्परमुक्तसंबन्धसद्भावे विशेषफलदायको योगो भवति

परे तु त्रिषडायपतीनां संबन्धो नापेक्षितस्तदैवाह-इतरैरिति। इतरे त्रिषडायाष्टमपतयस्तैरप्रसक्ता असंबन्धाश्चेत् तेषां संबन्ध-सत्वे तूक्तो योगो न भवतीति भावः ॥ १४ ॥

अथ केन्द्रेशत्रिकोणेशयोर्दोषयुक्तत्वेन योगहानिरित्याह—

केन्द्रत्रिकोणनेतारौ दोषयुक्तावपि स्वयम्।
सम्बन्धमात्राद्बलिनौ भवेतां योगकारकौ ॥१५॥

केन्द्रेति। केन्द्रत्रिकोणाधिपती स्वयं दोषयुक्तावपि संबन्ध-मात्राद्बलिनौ प्रोक्तलक्षणसंबन्धादेव बलिनौ संतौ योगकारकौ विशेषफलदायकयोगकारकौ भवत एवेति भावः।

एतत्संगृहीतं पाराशरीये—

पञ्चमं नवमं चैव विशेषं धनमुच्यते।
चतुर्थं दशमं चैव विशेषं सुखमुच्यते ॥
चन्द्रभानू विना सर्वे मारका मारकाधिपाः।
षष्ठाष्टमव्ययेशास्तु राहुः केतुस्तथैव च ॥
खपाद्रेष्काणपाश्चैव तथा वैनाशकाधिपाः।
विपत्तारामत्यरीशौ वधभेशस्तथैव च ॥
आयान्त्यपौ खपश्चैव चन्द्राक्रान्तगृहाधिपः।
जातके मारकाः प्रोक्ताः कालविद्भिर्मनीषिभिः ॥
दशान्तिमेषु कालेषु मारको मारकप्रदः।
अन्यस्मिन् योगकेऽपीति कालविद्भिर्निरूपितम् ॥

अत्र त्रिकोणयोर्धनत्वाच्चतुर्थदशमयोः सुखत्वाद्धनसुखे-

शयोः संबन्धे योगो भवतीति श्लोकद्वयार्थः । इतरप्रसंगस्तु योगनाशकस्तत्र के तावदितरे इत्याकांक्षायामष्टमे ह्यायुषः स्थानमित्यादिश्लोकपञ्चकमिति बोध्यम् । इति सामान्ययोगनिरूपणम् ॥ १५ ॥

अथ प्रबलराजयोगानाह——

निवसेतां व्यत्ययेन तावुभौ धर्मकर्मणोः ।
एकत्रान्यतरो वापि वसेच्चेद् योगकारकौ ॥१६॥

निवसेतामिति । तावुभाविति केन्द्रत्रिकोणनेतारौ धर्मकर्मणोरिति कथनाद्धर्मकर्मनेतारौ गृह्येते तौ द्वावपि व्यत्ययेन निवसेतां धर्मेशः कर्मणि कर्मेशो धर्मे इत्ययमेको योगः । योगान्तरमाह एकत्रेति । धर्मस्थाने उभौ निवसेतामित्येको योगः कर्मस्थाने उभौ निवसेतामित्यपरो योगः । उभयोर्मध्ये एक एव वा निजस्थाने निवसेत्तदापि राजयोगकारकौ भवतः ॥ १६ ॥

राजयोगान्तरमाह——

त्रिकोणाधिपयोर्मध्ये सम्बन्धो येन केनचित् ।
केन्द्रनाथस्य बलिनो भवेद्यदि सुयोगकृत् ॥१७॥

त्रिकोणाधिपयोरिति । पञ्चमनवमेशयोर्मध्ये येन केनचित् पञ्चमेशेन नवमेशेन सार्धं बलिनः केन्द्रनाथस्य दशमाधिपस्य अन्यकेन्द्रव्यावृत्त्यर्थं बलिन इत्युक्तम् । तस्य सम्बन्धः पूर्वोक्तलक्षणो यदि भवेत्तदा सुयोगकृत् राजयोगकारको भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ प्रकारान्तरेण योगान्तरमाह—

दशास्वपि भवेद्योगः प्रायशो योगकारिणोः ।
दशाद्वयीमध्यगतस्तदयुक् शुभकारिणाम् ॥ १८ ॥

दशास्वपीति । योगकारिणो राजयोगकारिणोः केन्द्रत्रिकोणयोर्दशाद्वयी धर्मेशदशा कर्मेशदशा चेति दशाद्वयसमाहारो दशाद्वयी तस्या मध्यगतः तदयुक् शुभकारिणां तच्छब्देन योगकारकपरामर्शः । योगकारकसंबन्धरहितानामपि ग्रहाणां दशास्वापि प्रायशो बाहुल्येन राजयोगो भवेत् । धर्मेशकर्मेशयोर्दशायामन्तरभोक्तारो ये ग्रहास्तत्संबन्धरहितास्तेषां दशास्वपि कदाचिद्योगो भवति स एव राजयोगकारक इति भावः ॥ १८ ॥

शुभग्रहाणामुक्ता पापिनामपि योगकारकत्वमाह—

योगकारकसंबन्धात्पापिनोऽपि ग्रहाः स्वतः ।
तत्तद्भुक्त्यनुसारेण दिशेयुर्योगजं फलम् ॥ १९ ॥

योगकारकसंबन्धादिति । स्वतः स्वभावात्पापिनो ग्रहाः योगकारकस्य संबन्धादुक्तसंबन्धान्यतमसंबन्धात् तत्तद्भुक्त्यनुसारेण योगकारकसंबन्धविशिष्टग्रहस्य या भुक्तिस्तामनुसृत्य तत्तद्ग्रहभोगकालावच्छेदेन राजयोगकारकं फलं दद्युरिति भावः ॥ १९ ॥

राजयोगान्तरमाह—

केन्द्रत्रिकोणाधिपयोरेकत्वे योगकारकौ ।
अन्यत्रिकोणपतिना संबन्धो यदि किं परम् ॥ २० ॥

केन्द्रत्रिकोणाधिपयोरिति। एकत्वे इति एक एव केन्द्राधिपः एक एव त्रिकोणाधिपश्च यदि संबन्धविशिष्टस्तदा तावुभौ राजयोगकारकौ भवतः। यदि पुनरन्येन द्वितीयेनापि त्रिकोणपतिना संबन्धस्तदा किं परं ततः श्रेष्ठं किं, न किञ्चिदित्यर्थः। अयं तु सर्वोत्तमराजयोग इत्यभिप्रायः॥२०॥

एतावता प्रबन्धेन भावेशत्वयुक्तानां राजयोगकारकत्वमुक्तमधुना भावेशत्वहीनयोरपि राहुकेत्वो राजयोगप्रकारकत्वमाह—

यदि केन्द्रे त्रिकोणे वा निवसेतां तमोग्रहौ।
नाथेनान्यतरेणापि संबन्धाद्योगकारकौ॥२१॥

यदि केन्द्रेति। तमोग्रहौ राहुकेतू यदि केन्द्रेऽथवा त्रिकोणे निवसेतां तत्र चान्यतरस्य केन्द्रस्य त्रिकोणस्य वा नाथेन स्वामिना संबन्धादुक्तलक्षणयोगकारकौ भवतः। यदा तौ केन्द्रस्थौ तदा त्रिकोणनाथेन संबन्धः, यदा त्रिकोणे स्यातां तदा केन्द्रनाथेन संबन्धश्चेत्तदा योगकारकौ भवेतामित्याहुः।

एते च योगा व्याख्याताः पाराशर्ये—

अथातः संप्रवक्ष्यामि राजयोगादिपञ्चकम्।
गुह्यकस्थानभेदेन राशिदृष्टे दशाफलम्॥
तपःस्थानाधिपो मन्त्री मंत्राधीशो विशेषतः।
उभावन्योन्य संदृष्टौ जातश्चेदिह राज्यभाक्॥
यत्र कुत्रापि संयुक्तौ तं वापि समसप्तमौ।

राजवंशोद्भवो बालो राजा भवति निश्चयः ॥
वाहनेशस्तथा माने मानेशो वाहने स्थितः ।
राजधर्माधिपाभ्यां तु दृष्टौ चेदिह राज्यभाक् ॥

सुतेशकर्मेशसुखेशलग्ननाथा यदा धर्मपसंयुताश्चेत् ।
नृपोन्तरश्चेदिह वारणाढ्यःस्वतेजसा व्याप्तदिगन्तरालः ॥

सुखकर्माधिपौ चैव मन्त्रिनाथेन संयुतौ ।
धर्मेशेनाथवा युक्तौ जातश्चेदिह राज्यभाक् ॥

सुतेश्वरो धर्मपसंयुतश्चेल्लग्नेश्वरेणापि युतो विलग्ने ।
सुखेऽथवामानगृहेऽथवा स्याद्राज्याभिषिक्तो यदि राजवंश्यः॥

धर्मस्थाने गुरुक्षेत्रे स्वगृहे भृगुसंयुते ।
पञ्चमाधिपसंयुक्ते जातश्चेदिह राज्यभाक् ॥ इति ।

अथ प्रसंगाद्धनयोगफलम्—

अतः परं प्रवक्ष्यामि धनयोगं विशेषतः ।
पञ्चमे तु भृगुक्षेत्रे तस्मिञ्छुक्रेण संयुते ॥
लाभे शनैश्चरयुते बहुद्रव्यस्य नायकः ।
पञ्चमे सौम्यजक्षेत्रे तस्मिन् सौम्ययुते यदि ॥
लाभे च चंद्रभौमौ तु बहुद्रव्यस्य नायकः ।
पञ्चमे तु शनिक्षेत्रे तस्मिन् सूर्ययुते यदि ॥
लाभे सोमात्मजस्थे वा बहुद्रव्यस्य नायकः ।
पञ्चमे तु रविक्षेत्रे तस्मिन् रवियुते यदि ॥
लाभे रवीन्द्रपूज्यस्थे बहुद्रव्यस्य नायकः ।

पञ्चमे तु शनिक्षेत्रे तस्मिन् शनियुते यदि ॥
लाभे भौमेन संयुक्ते बहुद्रव्यस्य नायकः ।
पञ्चमे तु गुरुक्षेत्रे तस्मिन् गुरुयुते यदि ॥
लाभे तु चन्द्रभौमौ चेद्बहुद्रव्यस्य नायकः ।
भानुक्षेत्रे गते तस्मिन् लग्ने भानुः स्थितो यदि ॥
भौमेन गुरुणा युक्तो दृष्टो वा स्याद्युतो धनी ।
चन्द्रक्षेत्रगते लग्ने तस्मिन् चंद्रयुते यदि ॥
जीवभौमयुते यस्तु दृष्टे जातो धनी भवेत् ।
भौमक्षेत्रगते लग्ने तस्मिन् भौमयुते यदि ॥
सोमशुक्रार्कजैर्युक्ते दृष्टे श्रीमान्नरो भवेत् ।
गुरुक्षेत्रगते लग्ने तस्मिन् गुरुयुते यदि ॥
सौम्यभौमयुते दृष्टे जातो यस्तु धनी नरः ।
बुधक्षेत्रगते लग्ने तस्मिन् सौम्ययुते यदि ॥
शनिशुक्रयुते दृष्टे जातो यस्तु धनी नरः ।
भृगुक्षेत्रगते लग्ने तस्मिन् भृगुयुते यदि ॥
शनिसौम्ययुते दृष्टे जातो यस्तु धनी नरः ।

इति धनयोगफलम् ॥

अथ दारिद्र्ययोगाः प्रदर्श्यन्ते—

अथातः संप्रवक्ष्यामि दारिद्र्यं दुःखकारणम् ॥
लग्नाधिपे रिष्फगते रिष्फेशे लग्नमागते ।
मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः ॥

लग्नाधिपे शत्रुगृहं गते वा षष्ठेश्वरे लग्नगतेऽपि वा चेत् ।
विलग्नपे मारकनाथदृष्टे जातो भवेन्निर्धनकोऽपि वैश्यः ॥
लग्नेन्दुकेतुयुक्ते वा लग्नेशे निधनं गते ।
मारकेशयुते दृष्टे जातो वै निर्धनो भवेत् ॥
षष्ठाष्टमव्ययगते लग्नेशे पापसंयुते ।
मारकेशयुते दृष्टे राजवंश्योऽपि निर्धनः ॥
विलग्ननाथो रिपुनाशरिष्फनाथेन युक्ते यदि पापदृष्टे ।
मन्त्रात्मजे नाथयुतेऽपि दृष्टे शुभैर्न दृष्टे स भवेद्दरिद्रः ॥
मन्त्रेशो धर्मनाथश्च षष्ठे कर्मस्थितौ क्रमात् ।
दृष्टौ चेन्मारकेशेन जातः स्यान्निर्धनो नरः ॥
पापग्रहे लग्नगते राज्यधर्माधिपौ विना ।
मारकेशयुते दृष्टे जातः स्यान्निर्धनो नरः ॥
यद्भावेशो रन्ध्ररिष्फारिसंस्थो यद्भावस्थारन्ध्ररिष्फारिभेशाः ।
पापैर्दृष्टो मंददृष्टोथवा चेद् दुःखाक्रान्तश्चञ्चलो निर्धनःस्यात् ॥
चन्द्राक्रान्तनवांशेशो मारकेशयुतो यदि ।
मारकस्थानगो वापि जातोऽसौ निर्धनो नरः ॥
विलग्नेशनवांशेशो रिष्फषष्ठाष्टगो यदि ।
मारकेशयुतो दृष्टो जातोऽसौ निर्धनो नरः । इति ॥२१॥

प्रकृतमनुसरामः । अथ राजयोगभंगमाह—

धर्मकर्माधिनेतारौ रंध्रलाभाधिपौ यदि ।
तयोः संबन्धमात्रेण न योगं लभते नरः ॥२२॥

धर्मकर्माधीति । नवमदशमभावेशौ क्रमेणाष्टमैकादशभावेशौ यदि तदा राजभंगयोगः । अयमर्थः—नवमभावेशो यः स एवाष्टमभावेशश्चेत्तदा राजयोगो न स्यात् । दशमभावस्वामी यो ग्रहः स एव लाभस्वामी यदि तदापि राजयोगो न स्यात् । एवं नवमेशोऽष्टमेशेन संबन्धं करोति तदा राजयोगं न लभते । दशमेशो लाभेशेन संबन्धं करोति चेत्तदापि राजयोगं न लभत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

इति भैरवदत्तविरचिते उडुदायप्रदीपोद्योते राजयोगाध्यायः ।

अथायुर्दायाध्यायो व्याख्यायते—

अष्टमं ह्यायुषः स्थानमष्टमादष्टमं च यत् ।
तयोरपि व्ययस्थानं मारकस्थानमुच्यते ॥२३॥

अष्टममिति । जन्मलग्नादष्टमस्थानमायुःस्थानमुच्यते । अष्टमस्थानादपि यदष्टमम्, अर्थाज्जन्मलग्नात्तृतीयं तदप्यायुःस्थानमित्युच्यते । मारकस्थानमाह—तयोरपीति । तयोः आयुःस्थानयोरष्टमतृतीययोरपि व्ययस्थानम्, अष्टमस्य व्ययस्थानं सप्तमं तृतीयस्य व्ययस्थानं द्वितीयं तेन सप्तमं द्वितीयं च स्थानं मारकस्थानमिति ॥ २३ ॥

अथ सप्तमापेक्षया द्वितीयस्य बलवत्त्वमित्याह—

तत्राप्याद्यव्ययस्थानाद्द्वितीयं बलवत्तरम् ।
तदीशितुस्तत्र गताः पापिनस्तेन संयुताः ॥२४॥

तत्रापीति । तत्र सप्तमद्वितीययोर्मध्ये आद्यव्ययस्थानात

अष्टमापेक्षया व्ययस्थानभूतात् सप्तमात् उत्तरं तृतीयापेक्षया व्ययस्थानभूतं द्वितीयं बलवत्तरं अतिशयेन बलवत्। सप्तमं मारकस्थानं बलवत् द्वितीयं तदपेक्षयापि बलवत्तरमित्यर्थः। तेन जन्मलग्नाद्द्वितीयराशीशस्य दशायां मरणं वाच्यमित्युक्तं भवति। तदेवाह—तदीशितुरिति। तच्छब्देनाव्यवहितपूर्वापरस्थितस्य द्वितीयस्य परामर्शः। तेन द्वितीयस्थानेशस्य दशाविपाकेषु संभवे सति नृणां निधनं स्यादित्युत्तरश्लोकार्धेन संबंधः। अथवा तत्र गता द्वितीयस्थानगता ये पापिनस्त्रिषडायेशास्तेन मारकेशेन युक्तास्तेषां दशाविपाकेषु संभवे सति निधनं मरणं वाच्यमित्यर्थः॥ २४॥

मरणकालज्ञानार्थमाह—

तेषां दशाविपाकेषु सम्भवे निधनं नृणाम्।
तेषामसम्भवे साक्षाद्व्ययाधीशदशास्वपि॥२५॥

तेषामिति। मारकेशसंबंधविशिष्टाः मारकेशस्थानस्थिता ये पापग्रहास्तेषामित्यर्थः। दशाविपाकेषु दशाः पूर्वमुक्तास्तेषां विपाका अन्तर्दशादिप्राणदशान्ताः परिणामास्तेषु मरणं स्यादित्यर्थः। संभवे इति कथनात्संभवाभावे तद्दशाविपाकेऽपि मरणं स्यादिति सूच्यते। संभवलक्षणं तूक्तं ग्रन्थान्तरे—

त्रिविधश्चायुषां योगः स्वल्पायुर्मध्यमुत्तरम्।
द्वात्रिंशत्पूर्वमल्पं तु तदूर्ध्वं मध्यमं भवेत्॥
आसप्ततेस्तदूर्ध्वं तु दीर्घायुरिति संमतम्।
उत्तमायुः शतादूर्ध्वं मुनीशाः संति तद्विदः॥

अल्पायुर्लग्नपे भानौ शत्रौ मध्यं तु मध्यमे ।
मित्रे लग्नेश्वरे तस्य दीर्घमायुरुदाहृतम् ॥
अल्पायुर्योगजातस्य विपत्तारे मृतिं वदेत् ।
जातस्य मध्यमे योगे प्रत्यरौ तु मृतिं वदेत् ॥
दीर्घायुर्योगजातस्य वधभे तु मृतिर्भवेत् ।
त्रिषु योगेषु सर्वेषु प्रत्येकं त्रिविधं भवेत् ॥
अल्पायुरल्पमध्यं तु पूर्णायुस्त्रिविधं मतम् ।
मध्यमादल्पमध्यं तु पूर्णायुस्त्रिविधं भवेत् ॥
दीर्घायुषोऽल्पमध्यं तु पूर्णायुस्त्रिविधं भवेत् ।
एवं नवविधं प्रोक्तमायुषां तु विनिर्णयम् ॥

इति सर्वार्थचिन्तामणौ । एवं प्रथममायुर्निश्चयः कर्तव्यः । अल्पायुर्वा मध्यायुर्वा दीर्घायुर्वेति । अल्पायुर्निश्चये तन्मध्ये चेन्मारकेशदशा समायाति मारकस्थानस्थितपापग्रहदशा वा मारकेशेन संबंधकर्तृदशा वा तत्र मरणं वाच्यम् । एवं मध्यायुर्निश्चये मध्यमायुर्मध्ये मारकेशदशादीनां त्रयाणां दशाविपाकेषु मरणं वाच्यम् । एवं दीर्घायुर्निश्चये तन्मध्ये मारकेशदशादीनां दशाविपाकेषु मरणं वाच्यमिति । प्रकारान्तरेणाप्यायुर्निश्चयः तथा च जैमिनिसूत्रम्—

प्रथमयोरुत्तरयोर्वा दीर्घमिति ।

अयमर्थः—चरराश्योर्यदि लग्नेशाष्टमेशौ भवतस्तदा दीर्घमायुः । स्थिरद्विस्वभावयोर्वा लग्नेशाष्टमेशौ यदि तदापि दीर्घमायुः । मध्यमायुराह—

प्रथमद्वितीययोरन्त्ययोर्वा मध्यमिति ।

चरस्थिरयोर्यदि लग्नेशाष्टमेशौ तदा मध्यमायुः, द्विस्वभावयोर्वा लग्नाष्टमेशौ यदि तदापि मध्यमायुरित्यर्थः ।

अल्पायुराह—

मध्ययोराद्यन्तयोर्वा हीनमिति ।

स्थिरयोर्यदि लग्नाष्टमेशौ तदप्यल्पमायुरिति ।

एवं मन्दचन्द्राभ्यां लग्नहोराभ्यां वा निश्चयमिति ।

अथोक्तरीत्याल्पायुर्निश्चितं मारकेशदशाविपाकस्तु नास्ति तदानीं कथं वाच्यमित्याशंकायामाह—तेषामसंभव इति । पूर्वोक्तानां संभवाभावे साक्षाद्व्ययाधीशस्य जन्मलग्नाद्द्वादशस्वामिनो दशासु दशान्तर्दशादिषु मरणं वाच्यम् । अपि शब्दाद्व्ययाधीशसंबंधिनां पापिनां दशास्वपि मरणं वाच्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

यदा तु व्ययेशादेरपि दशादिकं तत्र न लभ्यते वयस्त्वल्पमेव निर्णीतं तदा कथं वाच्यमित्यत आह——

अलाभे पुनरेतेषां सम्बन्धेन व्ययेशितुः ।
क्वचिच्छुभानां च दशा ह्यष्टमेशदशासु च ॥२६॥

अलाभ इति । पुनस्त्वर्थे । एतेषां व्ययेशव्ययस्थानगतव्ययेशसंबंधिनां पापिनां च अलाभे व्ययेशितुर्द्वादशेशस्य संबन्धेन सहावस्थानादिलक्षणेन शुभानामेव ग्रहाणां दशाविपाकेषु

निधनं वाच्यमिति संबंधः। व्ययेशसंबंधिनां शुभानामव्यलाभे त्वाह—क्वचिदिति भिन्नक्रमः क्वचिदष्टमेशदशास्विति योजना चाप्यर्थे। लग्नापेक्षया येष्टमेशास्तद्दशास्वपि निधनं वाच्यमित्यर्थः ॥ २६ ॥

केवलानां च पापानां दशासु निधनं क्वचित्।
कल्पनीयं बुधैर्नृणां मारकाणामदर्शने ॥२७॥

केवलानामिति। अथ पूर्वोक्तानां सर्वेषामसंभवे दर्शने भावाद्लाभे सति केवलानां मारकसंबन्धेनापि रहितानां पापानां पापग्रहाणां त्रिषडायेशानां दशासु बुधैर्दैवतत्त्वाविद्भिः क्वचित् कदाचित् निधनं कल्पनीयम्। चन्द्रभानू विना मारकस्थानाधिपो मारकेशः षष्ठाष्टमव्ययेशा राहुकेतू च एषां मध्ये य आयनवांशपतिः स सग्रहो मारकः। तथा चन्द्राक्रान्तनवांशपतिर्मारकः। पापषड्वर्गशत्रुग्रहास्तन्नीचवर्गादिषु षड्वर्गेशशब्देन स्वनवांशस्वद्रेष्काणस्वद्वादशांशस्वत्रिंशांशा गृह्यन्ते। पापग्रहकृते योगे मृत्युः। शुभग्रहकृते पीडामात्रमित्यादिकल्पनीयमिति ॥ २७ ॥

अथ विशेषतः शनेर्मारकयोगमाह—

मारकैः सह संबंधान्निहन्ता पापकृच्छनिः।
अतिक्रम्येतरान् सर्वान् भवत्येव न संशयः ॥२८॥

मारकैरिति। पापकृत् त्रिषडायेशत्वप्रयुक्तपापलक्षणाक्रांतत्वात् पापकर्तांशनिः मारकैः मारकस्थानेशादिभिःसह संबंधात् सहावस्थानपरस्परदृष्ट्यादिलक्षणसंबंधाद्धेतोः इतरान् सर्वान्

मारकानतिक्रम्य मारको भवत्येव । एवकारो भिन्नक्रमः । शनिरित्यस्यान्तरं द्रष्टव्यं तथा चान्यमारकापेक्षया शनिरेव मारक इत्यर्थः । न संदेह इति संदेहोऽत्र न कर्तव्यः । पापकृत्वमात्रेण शनेर्मारकत्वं यदा तु शनिरेव मारकेशः तदा किं वक्तव्यमित्यर्थः । अतः शनेः प्राबल्यमिति सिद्धम् । दशा चात्र विंशोत्तरीग्राह्येत्युक्तं प्राक् तत्फलमिदानीमुच्यते पाराशरीये—

अथ वक्ष्ये खगेशानां भुक्तिं पञ्चविधामहम् ।
दशा चान्तर्दशा चैव प्रत्यन्तरदशा तथा ॥

सूक्ष्मभुक्तिः प्राणदशाप्येवं पञ्च दशाः स्मृताः ।
लग्नेशे स्वनवांशस्थे तस्य भुक्तिः शुभावहा ॥

स्वदशांशगते लग्ननाथे स्वस्य दृकाणगे ।
तस्य भुक्तिं शुभामाहुर्यवनाद्या विशेषतः ॥

स्वत्रिंशांशेऽथवा मित्रात्रिंशांशे स्थितो यदि ।
तस्य भुक्तिः शुभा प्रोक्ता कालविद्भिर्मनीषिभिः ॥

बुद्धिक्षेत्रनवांशस्थे पुनर्द्विरसभांशपे ।
मित्रद्रेष्काणगे वापि तस्य भुक्तिः शुभावहा ॥

तपो राशिनवांशस्थे धर्माद्विरसभांशपे ।
गुरुद्रेष्काणगे वापि तस्य भुक्तिः शुभावहा ॥

सुखराशिनवांशस्थे वाहनाद्विरसांशके ।
सुखद्रेष्काणगे वापि तस्य भुक्तिः शुभावहा ॥

विलग्ननाथस्थितभांशनाथे मित्रांशगे मित्रग्रहेण दृष्टे।
सुहृद्दृकाणस्वनवांशके वा तदंशभुक्तिं शुभदां वदन्ति ॥

इति शुभदशा।

अथ वक्ष्ये विशेषेण दशां कष्टफलप्रदाम्—

षष्ठाष्टमव्ययेशानां दशा कष्टप्रदायिनी।
एतद्भुक्तिषु कष्टं स्यान्मारकस्य दशा यदा ॥
मारकेशस्तु षष्ठेशयुक्तो लग्नाधिपो यदि।
तस्य भुक्तौ ज्वरप्राप्तिमाहुः कालविदो जनाः ॥
सरोगेशशरीरेशश्चतुःषड्वर्गसंस्थितः।
जलदोषादस्य भुक्तौ स्यादजीर्णं न संशयः ॥
षष्ठेशयुतलग्नेशो बुधषड्वर्गसंस्थितः।
कफस्तस्य भवेद्भुक्तौ वातो वा देहजाड्यकृत् ॥
सारिनाथो विलग्नेशो गुरुः षड्वर्गगोपि चेत्।
तस्य भुक्तौ भवेद्रोगः पीडा वा ब्राह्मणे नतः ॥
नक्षत्रेशो विलग्नेशो भृगुः षड्वर्गगो यदि।
तस्य भुक्तौ भवेद्वातः सान्निपातोऽथवा नृणाम् ॥
लग्नेशरोगेश्वरसंयुताश्चेत्स्युश्चेत्समंदात्मजराहुकेतवः।
तदा सुहिक्का सविषूचिकादिरोगे नराणामथ तस्य भुक्तौ ॥
एवं भ्रात्रादिभावानां नायको यत्र संस्थितः।
तस्य षड्वर्गयोगेन तत्तद्भावफलं वदेत् ॥

इति कष्टदशा।

अथ विदशा—

लग्नेशरोगनाथौ च निधनेशेन संयुतौ ।
मारकेशयुतौ दृष्टौ रोगनाथांशगौ यदि ॥
तस्य भुक्तौ विजानीयाद्व्यथां शस्त्रेण वै नृणाम् ।
शुभयोगेन बाधा स्यात्पापयोगेन मृत्युकृत् ॥
जीवांशे जीववर्गेण मूलांशे मूलवर्गतः ।
रोगादिप्रवदेत्तत्र तेषां भुक्तिवशात्फलम् ॥

विलग्ननाथस्य नवांशनाथो रन्ध्रांशपस्याधिपतिश्च युक्तौ ।
मेषस्य षड्वर्गगतौ यदा तौ भुक्तौ तयोर्जम्बुकभीतितो वधः ॥

वृषवर्गगतौ तौ चेद्वृश्चिकाद्भयमादिशेत् ।
युग्मवर्गगतौ भीतिः कपिजा नात्र संशयः ॥
कुलीरवर्गगौ तौ चेद्रासभाद्भीतिमादिशेत् ।
सिंहवर्गगतौ तौ चेद्भुक्तौ व्याघ्रजं भयम् ॥
कन्यावर्गगतौ तौ चेद्भल्लूकाद्भयमञ्जसा ।
वणिग्वर्गगतौ तौ चेत्तद्भुक्तौ स्याद्गजाद्भयम् ॥
अलिवर्गगतौ येषां तेषां स्याद्गजतो भयम् ।
यदि कार्मुकवर्गस्थौ भुक्तौ स्याद्रथजं भयम् ॥
मृगवर्गगतौ तौ चेद्भुक्तौ करभजं भयम् ।
कुंभवर्गगतौ तौ चेद्दोलाङ्गूलाद्भयं भवेत् ॥
मीनवर्गगतौ भुक्तौ तेषां स्याद्ग्रहजं भयम् ।
एवं देहादिभावानां षड्वर्गगतिभिः फलम् ॥

सम्यग्विचार्य मतिमान् प्रवदेत्कालवित्तमः ।

इति विदशा ।

अथ सूक्ष्मदशा—

लग्नेश्वरो रन्ध्रपतिश्च युक्तो वृषे वृषांशे वृषभदृकाणे ।
स्थितौ भवेतां यदि तौ वृषेण घातान्निमित्तौ मरणस्य वेद्यौ॥
वृषे युग्मांशगौ तौ चेद्भल्लूकेन मृतिर्नृणाम् ।
वृषे कर्कांशगौ तौ चेन्नक्रादथ जले मृतिः ॥
वृषे सिंहांशगौ तौ चेत् व्याघ्राद्याघाततो मृतिः ।
वृषे कन्यांशगौ तौ चेत्कपिना नात्र संशयः ॥
वृषे तुलांशगौ तौ चेन्व्याघ्राद्भीतिं वदेत्तदा ।
वृषे कौर्प्यांशगौ तौ चेद्भुक्तौ चिन्ता व्ययो भवेत् ॥
वृषे चापांशगौ तौ चेन्माहिषेण मृतिं वेदत् ।
वृषे मृगांशगौ तौ चेन्महिषेण मृतिं वेदत् ॥
वृषे कुंभांशगौ तौ चेद्गोलाङ्गूलान्मृतिं वदेत् ।
वृषे झषांशगौ तौ चेदजवस्ताद्भयं भवेत् ॥
एवं संचिन्त्य मतिमान् भ्रात्रादीनां मृतिं वदेत् ।

इति सूक्ष्मदशा ।

अथ प्राणदशा—

शरीरनाथो मरणाधिपेन युक्तो मृगेन्द्रेण मृगाधिपांशे ।
तयोर्विपाके भयमाखुतो मृतिं सर्पात्तदा प्राहुरुदारचित्ताः॥
सिंहे कन्यांशगौ तौ चेत्कफकंपादितो मृतिः ।

मृगराजे तुलासंस्थे तयोर्भुक्तौ मृतिं वदेत् ॥
अल्पांशगौ मृगेन्द्रे वा तयोर्दाये सरीसृपात् ।
चापांशगौ मृगेन्द्रे तु तद्वर्गाच्च मृतिं वदेत् ॥
मृगांशगौ तौ सिंहे च तयोर्दाये खरान्मृतिः ।
कुंभांशगौ यदा तौ च मृगराजनृपाद्भयम् ॥
मीनांशकगतौ सिंहे सारङ्गाद्भयमादिशेत् ।
सिंहे मेषांशगौ तौ चेद्गोमायोर्भयमादिशेत् ॥
वृषांशगौ तौ सूर्यर्क्षे तयोर्दाये शुनो मृतिः ।
युग्मांशगौ तौ सूर्यर्क्षे गोलाङ्गूलाद्भयं भवेत् ॥
कर्कांशगौ तौ सिंहे तु दाये ग्राहान्मृतिं वदेत् ।
एवं भ्रात्रादिभावानां तत्तद्भुक्तौ फलं वदेत् ॥

देहाधिपो मृत्युपतिश्च युक्तौ,
चापांशगौ कार्मुकराशिगौ चेत् ।
दाये तयोर्वाजिकृतं च मृत्युं,
वदन्ति तत्कालविदो महान्तः ॥

चापे मृगांशगौ तौ चेत्सारंगाद्भयमादिशेत् ।
हये कुंभांशगौ तौ चेद्वराहाद्भयमादिशेत् ॥
हये मीनांशगौ तौ चेत्पाके नक्राद्भयं तयोः ।
मेषांशगौ तौ चापे तु तयोर्दाये शुनो मृतिः ॥
वृषे हयांशगौ तौ चेद्रासभाद्भयमादिशेदिति ।

अस्मिन् ग्रन्थे पञ्चमनवमयोर्धनसंज्ञा । दशमचतुर्थयोः

सुखसंज्ञा । द्वितीयसप्तमयोर्मारकस्थानसंज्ञा । षडष्टव्यया नेष्टस्थानानि । प्रथमतृतीयैकादशानि समस्थानानि बोद्धव्यानीति ॥ २८ ॥

श्रीभैरवदत्तदैवज्ञकृते उडुदायप्रदीपोद्योते आयुर्दायाध्यायस्तृतीयः ।

अथ नक्षत्रदशाप्रकारेणापि फलदातृत्वं ग्रहाणामेवेति तेषां फलदानकालज्ञानार्थमाह—

न दिशेयुर्ग्रहाः सर्वे स्वदशासु स्वभुक्तिषु ।
शुभाशुभफलं नृणामात्मभावानुरूपतः ॥२६॥

न दिशेयुरिति । ग्रहाः सूर्यादयः सर्वे सकला अपि स्वदशासु षड्शब्दादिरूपासु । स्वभुक्तिषु स्वगतमध्यगतान्तर्दशासु अष्टादशदिनाधिकमासत्रयादिभुक्तिरूपासु च नृणां मनुष्याणां शुभाशुभफलं शुभमशुभं वा यथाप्राप्तं फलं आत्मभावानुरूपतः आत्मनो यो भावः सूर्यस्य सिंह इत्यादिस्तदनुरूपतस्तदनुसारेण मेषादीनां यत्फलं तन्न दिशेयुर्न प्रदद्युरित्यर्थः । स्वभाव एवैष ग्रहाणामिति भावः । नृणामित्युक्तेरर्थात्पश्वादीनां दिशन्तीत्युक्तं भवति ॥ २६ ॥

एवं तर्हि कदा दिशन्तीत्यपेक्षायामाह—

आत्मसम्बन्धिनो ये च ये वा निजसधर्मिणः ।
तेषामन्तर्दशास्वेव दिशन्ति स्वदशाफलम् ॥३०॥

आत्मसंबंधिन इति । ये ग्रहा आत्मसंबन्धिनः आत्मना सहावस्थानादिसंबन्धचतुष्टयेन युक्ताः अथवा ये ग्रहाः

निजसधर्मिणः निजेन स्वेन समानधर्माणः आत्मसंबंध-राहित्येऽपि शुभाशुभाधिपतित्वेन सदृशास्तेषामन्तर्दशास्वेव स्वदशाफलं स्वस्वदशाविचारागतं दिशंति नान्यथेत्यर्थः। स्वयं शुभः शुभभावाधीशो यथा तथैवान्योऽपि। अशुभोऽशुभ-भावाधीशश्चेत्तदा तदन्तर्दशायामशुभमेव फलं प्रदिशेदिति भावः॥ ३०॥

अथ यथात्मसंबंधिनो ग्रहा न लभ्यन्ते नाप्यात्मसधर्मिणो ग्रहास्तदा कथं वाच्यमित्याकांक्षायामाह——

इतरेषां दशानाथविरुद्धफलदायिनाम्।
तत्तत्फलानुगुण्येन फलान्यूह्यानि सूरिभिः॥३१॥

इतरेषामिति। इतरेषां स्वसम्बन्धस्वसमानधर्मरहितानां दशानाथविरुद्धफलदायिनां वर्तमाना या दशा तस्या यो नाथः स्वामी तस्य विरुद्धं यत्फलं.दशानाथविरुद्धं फलं तद्दातुं शीलं येषां ग्रहाणां तेषां भुक्तिषु तत्तत्फलानुगुण्येन तत्तदन्तर्दशा-नाथफलानुगुण्यत्वेन फलानि दशानाथफलानि ऊह्यानि कल्प-नीयानि। अयमर्थः——यदि दशानाथः शुभफलप्रदः इतरे तु न शुभफलप्रदास्तेषामन्तर्दशायामशुभफलमागतं तत्तदनुगुण-मेव फलम्। दशानाथोऽपि ददाति न तु स्वदशाफलं शुभं यदा दशानाथोऽशुभफलद इतरस्तु शुभप्रदस्तदा तदन्तर्दशायां दशानाथोऽपि शुभमेव ददाति न तु स्वदशाफलमशुभमिति भावः॥ ३१॥

अथ केन्द्रेशत्रिकोणेशयोरपीदं प्रसक्तं तत्र विशेषमाह——

स्वदशायां त्रिकोणेशभुक्तौ केन्द्रपतिः शुभम्।

दिशेत्सोऽपि तथा नो चेदसंबन्धेन पापकृत्॥३२॥

स्वदशायामिति केन्द्रपतिः स्वदशायां स्वीयदशायां वर्तमानायां त्रिकोणेशभुक्तौ त्रिकोणपतेरन्तर्दशायां शुभं फलं दिशेत् दद्यात् । संबंधे सतीति योजनीयम्, असंबंधे पापकृत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । एवं त्रिकोणेशोपि स्वदशायां केन्द्रेशान्तर्दशायां शुभमेव दद्यात् नो चेत्सम्बंधो न चेदित्यर्थः । असंबंधेन सम्बन्धविरहेण हेतुना पापकृदशुभकर्तैव स्यादित्यर्थः । अत्रात्मभावानुरूपः फलान्युक्तानि पाराशरीये——

देहाधिपः पापयुतोऽष्टमस्थो व्ययारिगो वांगसुखं निहंति ।
सर्वत्र भावेषु च योजनीयमेवं बुधैर्भावेवशात्फलं हि ॥
एवं तृतीयेपि च सप्तमेपि फलं विमृश्यं कृतिभिः प्रयत्नात् ।
तथाव्यये मित्रगृहे रिपौमृते स्थितेविलग्नाधिपतौफलं स्यात्॥
पापोविलग्नाधिपतिर्विलग्ने चन्द्रोविलग्ने यदि वालवं स्यात् ।
तदातिरोगं स हि केन्द्रसंस्थस्त्रिकोणलाभेषु गदं निहंति ॥
बलोनतामेव तु पापवत्तामेतस्य वित्तं फलमानुरूप्यम् ।
नीचारिसूर्यस्य गृहेषु तिष्ठन्स्वर्क्षे विनार्थादिगृहत्रये च ॥
देहाधिपश्चन्द्रगृहाधिपो वा तृतीयरिष्फारिगतो बलः स्यात् ।
नीचास्तगद्विष्टगृहे स्थितो वा कार्श्यं शरीरेऽतिगदं करोति ॥

इति प्रथमभावफलम् ।

अथ द्वितीये——

शुक्रेण युक्तो यदि नेत्रनाथः शुक्रस्य वार्त्तादिगृहत्रयस्थः ।
संबंध्यपि स्याद्यदि देहपेन नेत्रं विधत्ते विपरीतभावम् ॥

तत्र स्थितौ चन्द्ररवीनिशान्ध्यं जात्यंधतां नेत्रपदेहपार्काः।
पैत्रर्चनाथेन युतास्तदांध्यं कुर्वन्ति मात्रादिफलं तथेदृक्॥

दोषकृन्न च सर्वत्र स्वोच्चस्वर्चगतो ग्रहः।
षडादित्रयसंस्थश्चेत्ताद्विना दोषकृच्छुभः॥
वागीशवाग्गृहाधीशौ षडादित्रयसंस्थितौ।
मूकतां कुरुतोऽप्येवं पितृमातृगृहाधिपाः॥
वागीशवाग्गृहाधीशौ युतास्ते त्रयसंस्थितौ।
कुर्वन्ति तेषां मूकत्वमेवमूह्यं मनीषिभिः॥
कुटुम्बकारकात्केन्द्रत्रिकोणेषु गता ग्रहाः।
सकुटुम्बकलत्रेशाः कलत्रं वा कुटुम्बकम्॥
पश्यन्ति च द्वयस्था वा यावत्तावत्प्रमाणकम्।
कलत्रं निर्दिशेत्प्राज्ञोऽथवा तेषां च नो वदेत्॥

विद्याधिपौ जीवबुधावविद्यामरित्रयस्थौ कुरुतोपि तौ चेत्।
केन्द्रत्रिकोणस्थग्रहोच्चसंस्थौ प्रयच्छतां द्रागनवद्यविद्याम्॥
एवं बुधस्याङ्गिरसः षडादित्रयास्थितौ नीचगृहोरिनाथः।
केन्द्रत्रिकोणस्य गृहोच्चसंस्थौ धनाभिवृद्धिं कुरुतस्तदैव॥

इति द्वितीयभावफलम्।

अथ तृतीयस्य—

स भौमे भ्रातृभावेशः षडादित्रयसंस्थितः।
भ्रातृक्षेत्रगतो वापि भ्रातृभावं विनिर्दिशेत्॥
तौ पापयोगतः पापक्षेत्रयोगेन वा पुनः।

उत्पाद्य सहजान् सद्यो निहन्ता शास्त्रनिश्चयात् ॥
स्त्रीग्रहो भ्रातृभावेशः स्त्रीग्रहो भ्रातृगोऽपि वा ।
भगिनी स्यात्तदा भ्राता पुंग्रहः पुंग्रहो यदि ॥
मिश्रे मिश्रफलं चात्र बलाबलविनिर्णयः ।

इति तृतीयभावफलम् ।

अथ चतुर्थस्य

गेहाधिनाथेन युते तु गेहे देहाधिपेनापि गृहाभिलब्धिः ।
युते षडादौ तु विपर्ययःस्याद्गृहाधिपे देहपतौ च तद्वत् ॥
केन्द्रत्रिकोणेषु शुभग्रहेण युते समीचीनगृहस्य लब्धिः ।
क्षेत्रस्य चिन्ता सदनाधिपेन जीवेन चिन्ता तु सुखस्यकार्या ॥
दिव्यांगनावाहनवस्तुभूषा चिन्ता तु कार्या भृगुणा बुधेन्द्रैः ।
तमःशनिभ्यामभिचिन्त्यमायुरर्केण तातःशशिनात्र मात्रा ॥
बुधेन बुद्धिः सदनर्क्षसंस्थां गतेन सप्तेशयुतेन च स्यात् ।
केन्द्रत्रिकोणेषु गतेन सप्त प्रपश्यता वापि सतुंगगेन ॥

इति चतुर्थभावफलम् ।

अथ पञ्चमस्य—

षडादित्रयसंस्थे तु सुताधीशे ह्यपुत्रता ।
केन्द्रत्रिकोणसंस्थे तु पुत्रलाभाभिसंभवः ॥
सत्पुत्रलाभः सुतपे सुरेज्ये शुभेषु देहेषु गते च भानौ ।
एकः स्थिरः सुत एक एव स्थितःशुभः केन्द्रनवात्मजस्थे ॥
पितापि चिन्त्यो नवमे सुतर्क्षे एवं विधश्चिन्तनमूह निश्चयम् ॥

क्षेत्रस्य कारको भौमः कर्मस्थानेप्ययं विधिः ।
अस्तंगते पञ्चमेशे पापाक्रान्ते च दुर्बले ॥
षष्ठे नीचे सुताधीशे काकवंध्या विशेषतः ।
षष्ठस्थाने सुताधीशो लग्नेशे कुजवेश्मनि ॥
म्रियते प्रथमापत्यं काकवंध्यात्वमाप्नुयात् ।
सुताधीशो हि नीचस्थः षडादित्रयसंस्थितः ॥
काकवंध्या भवेन्नारी सुते केतुबुधौ यदि ।
सुतेशो नीचगो यत्र सुतस्थानं न पश्यति ॥
तत्र सौरिबुधौ स्यातां काकवन्ध्यात्वमाप्नुयात्।
भाग्येशो मूर्तिवर्ती च सुतेशो नीचगो यदि ॥
सुते केतुबुधौ स्यातां सुतं कष्टाद्विनिर्दिशेत् ।
षडादित्रयसंस्थोपि नीचो वाप्यरिसांस्थितः ॥
पापाक्रान्ते सुतस्थाने पुत्रं कष्टाद्विनिर्दिशेत् ।

इति पञ्चमभावफलम् ।

अथ षष्ठस्य—

षष्ठाधिपोपि पापश्चेद्देहे वाप्यष्टमे स्थितः ॥
तदा व्रणो भवेद्देहे कर्मस्थानेप्ययं विधिः ।
एवं पित्रादिभावेशास्तत्तत्कारकसंयुताः ॥
व्रणाधिपयुताश्चापि षष्ठाष्टमयुता यदि ।
तेषामपि व्रणं वाच्यमादित्येन शिरोव्रणम् ॥
इन्दुना च मुखे कण्ठे भौमेन ज्ञेन नाभिषु ।

गुरुणा नासिकायां च भृगुणा नयने पदे ॥
शनिना राहुणा कुक्षौ केतुना च तथा भवेत् ।
लग्नाधिपः कुजक्षेत्रे बुधस्य यदि संस्थितः ॥
यत्र कुत्र स्थिते ज्ञेन वीक्षितो मुखरुक्प्रदः ।
लग्नाधिपौ कुजबुधौ चंद्रेण यदि संस्थितौ ॥
राहुर्वा शनिना सार्धं कुष्ठं तत्र विनिर्दिशेत् ।
लग्नाधिपं विना लग्ने स्थितश्चेत्तमसा शशी ॥
श्वेतकुष्ठं तदा कृष्णकुष्ठं च शनिना सह ।
कुजेन रक्तकुष्ठं स्यात्तत्तदेवं विचारयेत् ॥
लग्ने षष्ठाष्टमाधीशौ रविणा यदि संस्थितौ ।
ज्वरगण्डः कुजे ग्रन्थिः शस्त्रव्रणमथापि वा ॥
बुधेन पित्तं गुरुणा रोगाभावं विनिर्दिशेत् ।
स्त्रीभिः शुक्रेण शनिना वायुना संस्थितो यदि ॥
गण्डश्चाण्डालचोराभ्यां तमः केत्वोरहेर्भयम् ।
चन्द्रेण गण्डसलिलैः कफश्लेष्मादिना भवेत् ॥
एवं पित्रादिभावानां तत्तत्कारकयोगतः ।
गण्डस्तेषां भवेदेवमूह्यमत्र मनीषिभिः ॥

इति षष्ठभावफलम् ।

अथ सप्तमस्य——

कलत्रपो विना स्वर्क्षं षडादित्रयसंस्थितः ।
रोगिणीं कुरुते नारीं तथा तुङ्गादिकं विना ॥

स्त्रीपुत्रयात्राफलचिन्तनानि कार्याण्यनेनापि सहाधिपेन।
शुभेषु कार्यं शुभदं तथैव पापेन पापं फलमूहनीयम् ॥
सप्तमे तु स्थिते शुक्रेऽतीवकामी भवेन्नरः।
यत्र कुत्र स्थिते पापयुते स्त्रीमरणं भवेत् ॥

इति सप्तमभावफलम्।

अथाष्टमस्य--

आयुःस्थानाधिपः पापैः सहैव यदि संस्थितः।
करोत्यल्पायुषं जातं लग्नेशोऽप्यत्र संस्थितः ॥
एवं हि शनिना चिन्ता कार्या तर्कविचक्षणैः।
कर्माधिपेन च तथा चिन्तनं कार्यमायुषः ॥
षष्ठे व्ययेपि षष्ठेशो व्ययाधीशो रिपौ व्यये।
लग्नेऽष्टमे स्थितौ वापि दीर्घमायुः प्रयच्छति ॥
स्वस्थाने स्वांशकेनापि मित्रांशे मित्रमंदिरे।
दीर्घायुषं करोत्येव लग्नेशोऽष्टमपः पुनः ॥
लग्नाष्टमपकर्मेशमंदाः केन्द्रत्रिकोणयोः।
लाभे वा संस्थितास्तद्वत् दिशेयुर्दीर्घमायुषम् ॥
भेषु यो बलवांस्तस्यानुसारादायुरादिशेत्।

इत्यष्टमभावफलम्।

अथ नवमस्य—

भाग्याधिनाथोपि च भाग्यकर्ता,
शुक्रोपि पापैः सह चेत्त्रिषु स्यात्।

त्रिषडादिभावेषु च भाग्यहीनं,
केन्द्रत्रिकोणापगतोतिभाग्यम् ॥

अनेन धर्मः परिकल्पनीयः पिता तु चिन्त्यं निजमातुलस्य।
शुभे शुभस्थानगते शुभं स्याद्विपर्यये तत्र विपर्ययःस्यात्॥

इति नवमभावफलम्।

अथ दशमस्य—

कर्माधिपो बलोनश्चेत्कर्मवैकल्यमादिशेत्।
स हि केन्द्रत्रिकोणस्थो ज्योतिष्टोमादियागकृत्॥
अत्रायुषश्चिन्तनं च कार्यं स्यात्कर्मणस्तथा।
शत्रुनीचगृहं त्यक्त्वा षष्ठाष्टमगृहं तथा॥

इति दशमभावफलम्।

अथैकादशस्य—

लाभाधिपो यदा लाभे तिष्ठेत्केन्द्रत्रिकोणयोः।
बहुलाभं तदा कुर्यादुच्चः सूर्यांशगोपि वा॥

इत्येकादशभावफलम्।

अथ द्वादशस्य—

चन्द्रो व्ययाधिपो धर्मलाभमंत्रेषु संस्थितः।
स्वोच्चर्क्षनिजांशे वा लाभधर्मात्मजांशके॥
दिव्यागारादिपर्यंको दिव्यगन्धैकभोगवान्।
परार्थरमणो दिव्यवस्त्रमाल्यादिभूषणः॥

परार्थसंयुतो वित्तो दिनानि नयति प्रभुः ।
एवं स्वशत्रुनीचांशे अस्तांशे वाष्टमे रिपौ ॥
संस्थितः कुरुते जातं कान्तासुखविवर्जितम् ।
व्ययाधिक्यपरिक्लान्तं दिव्यभोगनिराकृतम् ॥
स हि केन्द्रत्रिकोणस्थः स्वस्त्रियालंकृतः स्वयम् ।
एवं भ्रात्रादिभावेषु तत्तत्सर्वं विचारयेत् ॥

इति द्वादशभावफलम् ।

अथ भावसमुच्चयस्य—

बली धनेशो धनकारकौ तथा,
बुधेज्यकौ केन्द्रसुतर्त्तभाग्यगौ ।
लाभे निजांशे यदि वा निजालये,
स्थितौ धनाढ्यं कुरुते नरं सदा ॥

विक्रमेशो बलाढ्यश्चेद्भ्रातृकारकखेचरः ।
केन्द्रत्रिकोणलाभोच्चस्वर्त्तस्वांशेषु संस्थितः ॥
दद्याच्च भ्रातरं तत्र सत्यशौचादिचिन्तनम् ।

बली ग्रहेशःसुखकारको बली, प्रयच्छति द्राग्बहुभोगमंदिरम् ।
अनेन सद्वाहनवेश्मबन्धुमात्रादिचिन्ता परिकल्पनीया ॥

इति पाराशरमुनिविरचिते केरलसारे द्वादशभावविचारः ।

ईदृशं भावफलं ग्रहाः स्वदशासु न दिशन्ति स्वसंबन्धिनां स्वसमानधर्मिणां चान्तर्दशासु दिशन्तीत्युक्तं श्लोकचतुष्टयेन दिशन्ति ग्रहाः सर्वे इत्यादिना ।

अन्यदपि चिन्तनमुक्तं ग्रन्थान्तरे--

लग्नाच्चिन्त्यं मूर्त्तिकीर्त्तिसाङ्गोपाङ्गनिरूपणम् ।
स्थितिः सुतसुसंपत्तिर्जन्मलग्नगते फलम् ॥
धनं सुखं च भुक्तिश्च सत्यं च बहुभाषणम् ।
सव्यनेत्राल्पहारश्च धनस्थानाद्विचिन्तयेत् ॥
भ्रातृकष्टौ त्रिक्रमश्च क्षुधाभरणपात्रवान् ।
भ्रातृस्थानफलं नाम तत्तन्नामफलं दिशेत् ॥
वाहनं बहुमातृंश्च सिंहासनसुखे ग्रहाः ।
बन्धुमित्रमिदं नाम चतुर्थस्थानमुच्यते ॥
पुत्रो बुद्धिश्च मन्त्रश्च देवता भक्तिरेव च ।
हृदयं मातुलश्चैव सुतस्थानाद्विचिन्तयेत् ॥
रिपुकान्तिबलं रोग उदारं शत्रुरेव च ।
षष्ठस्थानमिदं नाम तत्तन्नामफलं दिशेत् ॥
कलत्रं कामुकत्वं च दन्ता नाभिश्च रोगवान् ।
गुदं संकटके चैव आयुःस्थानाद्विचिन्तयेत् ॥
भाग्यं च तीर्थं धर्मं च पितृस्थानमिति क्रमात् ।
मानराज्यत्यक्तकीर्तिः कर्मव्यापारमेव च ॥
लाभं च ज्येष्ठभ्रातृंश्च कर्णजंघमिति क्रमात् ।
रिष्फव्ययं पितृधनं वादयोषादि नाम च ॥
इति भावनामानि ॥ ३२ ॥

अथ राजयोगारम्भकाले या दशा तत्र राजयोगस्य फलमाह—

आरंभो राजयोगस्य भवेन्मारकभुक्तिषु ।
प्रथयन्ति तमारभ्य क्रमशः पापभुक्तयः ॥३३॥

आरंभ इति । मारको द्वितीयसप्तमेशस्तस्य भुक्तिषु अन्तर्दशासु राजयोगस्य यदारम्भो भवेत् तदा पापभुक्तयः पापग्रहाणामन्तर्दशास्तं राजयोगारम्भकालमारभ्य प्रथयन्ति राजानमतिप्रथामात्रयुक्तं कुर्वन्ति । राजयोगप्रभावाद्राजेति प्रसिद्धस्तु । भवति मारकग्रहभुक्तिवशात्तु राज्यसुखादितेजो बलवृद्ध्यादिकं किमपि न भवतीति भावः।क्रमश इति कथनाद्दिने दिने प्रथा वृद्धिरिति ज्ञाप्यते ॥ ३३ ॥

पापग्रहाणामन्तर्दशासु राजयोगारम्भस्य फलमुक्त्वा शुभग्रहाणामन्तर्दशासु राजयोगारंभफलमाह—

तत्संबन्धिशुभानां च तथा पुनरसंयुजाम् ।
शुभानां तु समत्वेन संयोगो योगकारिणाम्॥३४॥

तत्संबंधि शुभानामिति । तत्पदेन राजयोगकारकग्रहः तस्य संबन्धिनः सहावस्थानाद्यन्यतमसंबंधविशिष्टाः शुभाः शुभग्रहास्तेषां भुक्तिषु राजयोगारंभे सति तथा क्रमशः प्रथयंति तमारभ्य राज्यसुखतेजोबलादीनां दिने दिने वृद्धिं कुर्वन्ति । यद्यप्युत्कर्षबोधकं पदं नास्ति तथापि असंयुजां शुभानां तु समत्वेनेति वक्ष्यमाणत्वादत्रोत्कृष्टत्वेनेति विवक्षितं पूर्वं तु अपकृष्टत्वेनेति बोध्यं समयोगफलमेवाह—पुनरसंयुजामिति— न संयुज्यन्ते इति असंयुजः संबन्धसामान्यरहितास्तेषां

योगकारिणां शुभानां तु ग्रहाणां अन्तर्दशायां यदि राजयोगारंभ इति पूर्ववदेव संबन्धः । अत्र योगे समत्वेन प्रथयन्ति । नाप्यपकर्षो नाप्युत्कर्ष इति साम्यमेव राजसुख-तेजोबलवृद्ध्यादौ भवतीत्यर्थः, अयं श्लोकद्वयार्थः । राजयोगस्य फलं राज्यप्राप्त्यादि तत्त्रिविधं उत्कृष्टं मध्यं नीचं च । तत्र पापभुक्तिषु राजयोगारंभे नीचमुत्कर्षादिहीनमेव फलं प्रथामायाति । शुभभुक्तिषु तदारंभे मध्यममेव फलं प्रथितं स्यादिति ॥ ३४ ॥

अथ राजयोगकारकस्यैव दशायां विशेषमाह—

शुभस्यास्य प्रसक्तस्य दशायां योगकारकाः ।
स्वभुक्तिषु प्रयच्छन्ति कुत्रचिद्योगजं फलम् ॥ ३५ ॥

शुभस्येति । अस्य योगकारकस्य शुभस्य शुभग्रहस्य प्रसक्तस्य संबन्धविशिष्टस्य दशायां योगकारकग्रहाः स्वभुक्तिषु स्वान्तर्दशासु कुत्रचित् कदाचित् योगजं राजयोगसमुद्भवं फलं प्रयच्छन्ति । राजयोगकारकग्रहदशायां यदा योगकारक-ग्रहस्यान्तर्दशा समायाति तदा फलं भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

राहुकेतुविषये विशेषमाह—

तमोग्रहौ शुभारूढावसंबन्धेन केनचित् ।
अन्तर्दशानुसारेण भवेतां योगकारकौ ॥ ३६ ॥

तमोग्रहाविति । तमोग्रहौ राहुकेतू शुभारूढौ केन्द्र-त्रिकोणान्यतमस्थानगतौ यदि भवेतां तदा अन्तर्दशानुसारेण योगकारकग्रहस्य यदान्तर्दशा भवति तदा योगकारकौ भवेतां

योगजं फलं दिशेतामित्यर्थः । अयं भावः । योगकारकग्रह-संबंधरहितत्वेपि शुभस्थानारूढत्वमात्रेण राहुकेतू राजयोग-फलं दिशतः; परन्तु राजयोगकारकस्य ग्रहस्य यदान्तर्दशा भवति, तत्रापि शुभस्यान्तर्दशा चेदुत्कृष्टम्, अशुभस्यान्तर्दशायां हीनमित्यादिपूर्ववदूहनीयम् ॥ ३६ ॥

पापा यदि दशानाथाः शुभानां तदसंयुजाम् ।
भुक्तयः पापफलदास्तत्संयुक्शुभभुक्तयः ॥३७॥

पापा यदीति । दशानाथा यदि पापा अशुभग्रहाः स्युस्तदा तदसंयुजां दशानाथसंबन्धरहितानां शुभानां पापग्रहाणा-मन्तर्दशासु भुक्तयः योगकारिणां भुक्तयः पापफलदा भवन्ति । संबन्धसहितानां तु प्राह—तत्संयुक् शुभभुक्तय इति । दशा-नाथसंबंधिशुभग्रहभुक्तयस्तु मिश्रफलदा भवन्ति इत्यग्रिमश्लोक-स्थेन संबन्धः, योगकारिणां पापिनां दशानाथसंबन्धरहितानां तु भुक्तयोऽत्यन्तपापफलदा अशुभफलदायिन्यो भवन्ति । पापा यदि दशानाथा इत्यस्य सर्वत्रान्वयो वेदितव्यः ॥३७॥

भवन्ति मिश्रफलदा भुक्तयो योगकारिणाम्
अत्यन्तपापफलदा भवन्ति तदसंयुजाम् ॥३८॥

भवन्तीति । पूर्वश्लोकेन सहास्यार्थ उक्तः अयं श्लोक-द्वयार्थः । पापग्रहदशायां पापिनो दशाधीशस्यासंबंधी यः शुभ-ग्रहस्तस्यान्तर्दशायां न शुभं फलं भवति । पापिनो दशानाथस्य संबंधी यः शुभग्रहस्तस्यान्तर्दशायामप्यशुभं फलं भवति पापिनो दशानाथस्य यः संबंधी पापग्रहस्तस्यान्तर्दशायामत्यन्तम-शुभमिति ॥ ३८ ॥

अथ मारकस्य भुक्तिवशान्मारकत्वात् मारकत्वमुपदिशति—

सत्यपि स्वेन संबन्धे न हन्ति शुभभुक्तिषु ।
हन्ति सत्यप्यसंबन्धे मारकः पापभुक्तिषु ॥३९॥

सत्यपीति । स्वेन संबंधे परस्पराश्रयादिलक्षणे सत्यपि शुभभुक्तिषु शुभग्रहान्तर्दशायां न हन्ति न मारयति । असत्यपि स्वेन संबंधे पापभुक्तिषु हन्ति । सत्यप्यसंबंधे इत्यस्यासंबन्धे सतीत्यन्वयः । अयं भावः—मारकग्रहदशायां यदि शुभग्रहस्यान्तर्दशा भवति तदा न मारयति, संबंधस्त्वत्र न प्रयोजकः । यदि तु पापग्रहस्यान्तर्दशा भवति तदा मारयत्येव न संबंधमपेक्षित इति ॥ ३९ ॥

अथ शनिभार्गवयोर्भुक्तिव्यत्ययेन शुभाशुभफलप्रदत्वमाह—

परस्परदशायां च स्वभुक्तौ सूर्यजभार्गवौ ।
व्यत्ययेन विशेषेण प्रदिशेतां शुभाशुभम् ॥४०॥

परस्परेति । सूर्यजभार्गवौ शनिशुक्रौ परस्परदशायां शनिः शुक्रदशायां शुक्रः शनिदशायाम् । शनिः स्वदशायामित्यादिस्तु नार्थः स्वदशायाः परस्परदशात्वाविरहात् । तथा च शनिः शुक्रदशायां स्वभुक्तौ स्वीयान्तर्दशाकालेन व्यत्ययेन वैपरीत्येन अर्थाच्छुक्रस्यैव शुभमशुभं वा फलं ददाति, एवं शुक्रः शनिदशायां स्वान्तर्दशाकाले शनेरेव शुभमशुभं वा फलं ददाति; इदमपि विशेषेण विशेषरूपेण न तु सामान्यरूपेणेति ॥ ४० ॥

अथ विख्यातिकारकं राजयोगमाह—

लग्नकर्माधिनेताराावन्योन्याश्रयसंस्थितौ ।
राजयोगाविति प्रोक्तं विख्यातो विजयीभवेत्॥४१॥
धर्मकर्माधिनेताराावन्योन्याश्रयसंस्थितौ ।
राजयोगाविति प्रोक्तं विख्यातो विजयी भवेत्॥४२॥

लग्नकर्माधीति । कर्मलग्नाधिनेतारौ दशमेशजन्मलग्नेशौ अन्योन्याश्रयसंस्थितौ अन्योन्यस्य परस्परस्य आश्रयः स्थानं तत्र संस्थितौ कर्मेशो लग्नस्थाने लग्नेशः कर्मस्थाने स्थितो यदि स्यात् तदा राजयोगाविति, राजयोगकारकौ स्त इत्यर्थः । ततः किमित्याह । विख्यात इति । अस्मिन् योगे जात इत्यध्याहारः ॥ विख्यातः विशिष्टख्यातिमानाविजयी-संग्रामविवादादिषु जयशाली स्यादिति । अथ राजयोगान्तर-माह । धर्मकर्माधिनेतारौ नवमदशमभावेशौ अन्योन्याश्रय-संस्थितौ, धर्मेशः कर्मभावे कर्मेशो धर्मभाव इत्येवं यदि स्यात्तदा तौ राजयोगकारकाविति प्रोक्तं शास्त्रे कथितम् । अस्मिन्नपि योगे पूर्वोक्तमेव फलमित्याह । विख्यातो विजयी भवेदिति । वीर्यवान् विजयी भवेदिति क्वचित्पाठः स्पष्टार्थः ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीउडुदायप्रदीपेऽन्तर्दशाध्यायःसंपूर्णः । समाप्तोऽयंग्रन्थः॥

अथ ग्रहस्वभावाद्द्रष्टव्यानि फलान्युच्यन्ते—

(१) राजविद्रुमरक्तवस्त्रमाणिक्यराज्यवनपर्वतक्षेत्रपि-
तृकारको रविः ॥

(२) मातृमनःपुष्टिगन्धरसेक्षुगोधूमक्षारकुद्विजशक्तिका-
यसस्यरजतादिस्वादिकारकश्चन्द्रः ॥

(३) सत्वसद्मभूमिपुत्रशीलचौर्यरोगब्रह्मभ्रातृपराक्रमा-
ग्निसाहसराजशत्रुकारकः कुजः ॥

(४) ज्योतिर्विद्यामातुलगणितकार्यनर्तनवैद्यहासभीः
श्रीशिल्पविद्यादिकारको बुधः ॥

(५) स्वकर्मयजनदेवब्राह्मणधर्मग्रहकाञ्चनवस्त्रपुत्रमित्रा-
न्दोलनादिकारको गुरुः ॥

(६) कलत्रकार्मुकसुखगीतशास्त्रकाव्यपुष्पसुकुमारयौव-
नाभरणरजतयानवर्गलोकमौक्तिकविभवकवितार-
सादिकारकः शुक्रः ॥

(७) महिषहयगजतैलवस्त्रशृंगारप्रयाणसर्वराज्यसर्वायु-
धग्रहयुद्धसंचारशूद्रनीलमणिविप्रकेशशिल्पशूलरो-
गदासदासीजनायुष्यकारकः शनिः ॥

(८) प्रयाणसमयसर्परात्रिसकलसुखार्थकताद्यूतकारको
राहुः ।

(९) व्रणरोगचर्मार्तिशूलस्फोटक्षुधार्तकारकःकेतुरिति ॥

अथ ग्रहशान्तिः ।

माणिक्यगोधूमसवत्सधेनुं कौसुंभवस्त्रं घृतहेमताम्रम् ।
आरक्तचोलेन घृतं धनं वा वदन्ति दानादि विरोचनाय ॥
शंखं सपात्रं सितचामरञ्च कर्पूरमुक्ताफलशुभ्रवस्त्रम् ।

युगोपवीतं वृषभं च रौप्यं चन्द्राय दद्याद् घृतपूर्णकुंभम् ॥
प्रवालगोधूममसूरकाश्च वृषोऽरुणोप्याढककाः सुवर्णम् ।
आरक्तवस्त्रं करवीरपुष्पं ताम्रं च भौमाय वदन्ति दानम् ॥
नीलं च चैलं कलधौतकांस्यं मुद्गाज्यगारुत्मकसर्वपुष्पम् ।
दासी च दन्तो द्विरदस्य नूनं वदन्ति दानं विधुनंदनाय ॥
शर्करा च रजनी तुरङ्गमः पीतधान्यमपि पीतमम्बरम् ।
पुष्परागनवरत्नकाञ्चनं प्रीतये सुरगुरोः प्रदीयताम् ॥
चित्राम्बरं शुभ्रतरस्तुरङ्गो धेनुश्च वज्रं रजतं सुवर्णम् ।
सतण्डुलाज्योत्तमगंधयुक्तं वदन्ति दानं भृगुनन्दनाय ॥
माषाश्चतैलं विमलेन्द्रनीलं तिलाकुलत्था महिषी च लौहम् ।
गौश्चासितेति प्रवदन्ति दानं कृष्णं च दद्याद्रविनन्दनाय ॥
गोमेदरत्नं च तुरङ्गमश्च सुनीलचैलादि सकंबलं च ।
तिलाश्च तैलं खलु लौहयुक्तं स्वर्भानवे दानमिदं वदन्ति ॥
वैदूर्यरत्नं सतिलं सतैलं सुकंबलं चापि मदो मृगस्य ।
वस्त्रं हि केतोः परितोषबीजमुदीरितं दानमिदं मुनीन्द्रैः ॥
जपहोमग्रहोपास्तिदेवद्विजगवार्चनैः ।

नश्यत्यमङ्गलं सर्वं कुदशाग्रहसंभवमिति ॥

यद्वंशे नहि मूढतामुपगतो नापंडितो नाधनो
नो दीनो न च दुःखितो न तपसा हीनो न वा दुर्बलः ।
नापूज्यो न च राजमानविधुरो नासंततिर्नामतिः
सोऽयं सूरिपराशरो मुनिवरो वर्वर्ति सर्वोपरि ॥

तदन्वये शुद्धमतिः समान्यः सद्वासनाढ्योधिषणाधनाढ्यः।
पाण्डेयनामागिरिधारिलालो वृन्दावनोदेशलसज्जरोल्याम्॥
तस्यात्मजः कुन्दनरामशर्मा तदात्मजोऽभूद्धरिरामशर्मा।
तदात्मजः स्वान्तनिविष्टरामः सिद्धान्तविद्भैरवदत्तसूरिः॥
अकारि तेनायमुडुप्रदीपोद्योतो गुरूक्तिप्रतिषिद्धदोषः।
विद्वज्जनानां गुणसद्धनानां भवेदनायासविलासहेतुः॥

अभूद्भैरवसूक्तीनां लिपिकृद्धरणीधरः।
महाभारतनिर्माणे व्यासस्येव गणेश्वरः॥

इति ग्रहशान्तिः।

श्रीगणेशाय नमः

सज्जन-रञ्जनी ।

अथोडुदायप्रदीपो व्याख्यायते—

श्रीमतिमन्नृहरिं प्रणम्य भक्त्यासुहृदां हृत्कमलप्रकाशहेतोः ।
उडुदायोत्थफलप्रदीपटीका क्रियते सज्जनरञ्जनी मयैषा ॥१॥

पराशरमतागमार्थगहनोदधिक्रोडगा,
शुभाशुभफलावलीघनवृतेन्दुबिम्बप्रभा ।
पुरातनकथाः कथं कथयितुं क्षमार्धीभिमे
त्यजस्त्रमनुधावतीव हि न याति पारं यतः ॥ २ ॥

न पदच्छेदपदार्थविग्रहार्थान्वयसद्भावनिरुक्तियुक्तबुद्धिः ।
कुतआत्तपसमाधृतिस्तथापीरयतिश्रीगुरुर्गीर्लिखेत्यजस्रम् ३

पराशरपराऽपारापाराशरपरम्परा ।
गुरोर्गीः श्रुतिगारूत्था लिपिरूपा वहत्यसौ ॥ ४ ॥
अस्य विप्रतिपत्त्युक्तौ योग्यत्वं न बृहस्पतेः ।
का कथाधुनिकानां सा प्रोतोत्ताकल्पमादृशाम् ॥ ५ ॥
अतो गुरूक्ता व्याख्यैव न्यस्तेयं न स्वकल्पिता ।
अत आगमवन्मान्या स्वकल्याणमभीप्सुभिः ॥ ६ ॥

अथ पराशरमतानुभवितान्तःकरणः कश्चित्कविस्तदुडुदायप्रदीपाख्यं ग्रंथं कर्तुमुद्यतः स्वेष्टदेवं प्रणमति—

सिद्धान्तमिति—वीणाधरमिति विशेषणात् किञ्चि-

न्महोऽर्थात्सरस्वतीरूपं तेजः सरस्वतीति यावत् तस्या एव वीणाधारित्वात् । तदुपास्महे, तत्किंभूतं औपनिषदं सिद्धान्तं उपनिषद्ब्रह्मभागप्रतिपाद्यं सिद्धान्तं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः । तस्य ब्रह्मभागप्रतिपादकत्वात् । पुनश्च परमेष्ठिनो ब्रह्मणः शुद्धान्तं अन्तःपुररूपं 'शुद्धान्तश्चावरोधश्चेत्यमरः' । पुनः शोणाधरं शोणौ रक्तावधरौ यस्य तदिति । ईदृशं किञ्चिदनिर्वचनीयं उपास्महे ध्यानधारणादिना उपासनाविषयं कुर्मो भजाम इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ पराशरमतमवलम्ब्य ग्रंथं कर्तुमुद्यतोऽस्मि इति प्रतिज्ञा प्रकाशनायाह——

वयमिति——वयं यथाश्रुति पाराशरीं होरामनुसृत्य तन्मतं पर्यालोच्य, दैवविदां प्राग्जन्मार्जितसदसद्रूपं दैवं विदन्ति जानन्ति इति दैवविदो होराशास्त्रनिपुणा दैवज्ञास्तेषां मुदे हर्षाय उडुदायप्रदीपाख्यं ग्रन्थं कुर्मः। उडूनां नक्षत्राणां दाया आयुर्विभागास्त एव प्रदीपा यस्मिन् तस्मिन्नित्युडुदायप्रदीपस्तदेवाख्या नाम यस्य तदुडुदायप्रदीपाख्यमित्यर्थः । अथात्र कर्तर्येकस्मिन्कथं वयमिति बहुवचनमित्युच्यते——होराकृत्पराशरमुनिस्तत्पावको निजगुरुस्तच्छिक्षया ज्ञाताखिलग्रंथार्थतत्त्वो ग्रंथकृच्चेति——तत्कथमिति चेत्, मुनिवाक्यस्वरसागुरूदितयुक्त्या स्वकीयभावेन च त्रिभिर्योजनाकरणे शास्त्रतत्त्वमवगतं, तत्तु त्रिभिः संपादितं भवतीति मनस्याधाय वयमित्युक्तं ग्रंथकृता, न तु स्वोत्कर्षेण बहुवचनमिति ॥ २ ॥

अथात्र सिद्धा उडुदायेनेति——जैमिनीमताद्यद्यपि सर्वे

उडुदायाः समागतास्तथाप्यत्र विंशोत्तरीदशाधीनफलमुक्तं पराशरमुनिनेति तत्त्वम्। अतः फलानीति श्लोके श्लोकार्धमधिकं पठन्ति । अष्टोऽशायुःप्रभृतिसकलमुन्येकमतादितायुर्दायमपहाय केवलमुडुदायकथने किं मानमिति चेदुच्यते।

'योगायुः कीर्तितं सत्ये त्रेतायामाश्रयागतम्।
द्वापरेंऽशायुरादीनि कलौ नक्षत्रजा दशा इति ॥'

अन्यदपि—

'सन्त्यनेकानि चायूंषि मुन्युक्तानीह जातके।
अन्यान्याभासमात्राणि कलौ नाक्षत्रिकं विनेति ॥'

पराशरादिप्राचीनवाक्यात्सन्त्यथैवमुडुदायास्त्रिविधा अष्टोत्तरी, विंशोत्तरी, योगिनी चेति। ताः प्रत्येकं नवधा—

'नक्षत्रजा दशा प्रोक्ता नवधा भुवि भेदतः।
त्रिविधास्ताः क्रियाभेदाज्ज्ञात्वा ताभ्यः फलं वदेत्॥'

क्रियाविधानमप्युक्तमनेकविधं अष्टोत्तरीविंशोत्तरी दशोक्तरीत्या वैलक्षण्येन कथमियं योगिनी त्रिविभागविभक्तेति नाशङ्कनीयम्, दीर्घायुर्मध्यायुरल्पायुर्भेदवशादिति ज्ञेयम्। तदुक्तं वृद्धैः—

'षट्त्रिंशात्पूर्वमल्पायुर्मध्यायुश्च ततो भवेत्।
द्विसप्तत्या पुरस्तात्तु ततो दीर्घमुदाहृतमिति ॥'

एवं त्रिविधासु दशास्वस्मिन्ग्रंथे विंशोत्तरी दशैव स्वीकृतास्तीति न त्वष्टोत्तरीदशेति, तत्र किं मानमिति तदाह—

'अतः कलौ खाक्षिधरासमा नृणामायुः शराहं मुनयो

वदन्ति' इति होराम्नायाद्युक्तत्वादुडुदायानां मध्ये विंशोत्तरी-दशायाः प्राधान्यादत्र विंशोत्तरी दशा स्वीकृतेति भावः। तत्र विंशोत्तरी दशानयने प्रक्रिया त्रिविधा आद्यस्यैवानुपातः, सर्वेषामनुपातः, सर्वेषामंशेनानुपातश्चेति तदानयनप्रकारान् ग्रंथांतरादग्रे वक्ष्यामः ॥ ३ ॥

बुधैरिति—भावादयः सर्वे विचाराश्रयीभूतपदार्थाः भावार्थ-संज्ञास्वरूपजात्यादयो राशिप्रभेदग्रहयोनिभेदमित्रामित्रमूल-त्रिकोणोच्चनीचादिबलाबललक्षणानि सामान्यशास्त्रतो भययवनमणित्थाद्युक्तग्रंथेभ्यो ज्ञातव्यानि। एतच्छास्त्रेति एतच्छास्त्रोक्तरीत्या विशेषेण संज्ञाः ब्रूमः काश्चिदिति ॥ ४ ॥

अथ सामान्यशास्त्रे विशदीकृत्योदितायामपि दृष्टौ यो विशेषस्तमेवास्मिन् शास्त्रे ब्रूम इति प्रतिज्ञातत्वादत्राह—

पश्यन्तीति—सर्वे सूर्यादयो राह्वन्ता ग्रहाः सप्तमं सप्तमं भवनं पश्यंति स्वाधिष्ठितस्थानतो यत्सप्तमं भवनं तच्च तत्स्थ-ग्रहांश्च पश्यन्तीत्यनेनान्या दृष्टिर्नापेक्षिता इत्यतोऽस्मिन् शास्त्रे पूर्णैव दृष्टिः स्वीकृता न तु चरणदृष्टिरिति। कथमित्थ-मिति चेद्यो विशेषस्तं ब्रूम इति प्रतिज्ञातत्वादवसेयम्। पुनर्भूयोऽपि विशेषतः शनिजीवकुजाः त्रिदशत्रिकोणचतुरष्ट-मानपि पश्यन्ति, तृतीये दशमे शनिः पूर्णं पश्यति, एवं जीवो गुरुस्त्रिकोणे नवपंचमे च पूर्णं पश्यति, एवं कुजो भौमोऽपि चतुरष्टमान् चतुर्थेऽष्टमे च पूर्णं पश्यति। अयं भावः शनि-जीवकुजानां त्रिदशत्रिकोणचतुरस्रक्रमेण पूर्णा दृष्टिः सप्तमे च अन्येषां सप्तमे एव पूर्णा नान्यत्रेत्यर्थः। अत्र विशेषत इति पदोपादानादत्रापि सर्वपदेन सप्तमं पूर्णदृशा शनिजीवकुजाः

पश्यन्ति । तथापि सप्तमदृष्ट्यपेक्षया पुनर्विशेषविधानात्किञ्चिदधिकं फलं प्रयच्छन्तीति भावः । अत एवोक्तं वराहेण—'क्रमशो भवन्ति किल वीक्षणेऽधिकाः' इति । अथात्र सर्वशब्दोपादानाद्राह्वन्तानां दृष्टिरुक्ता न तु केतोरिति भावः । तत्कथमिति चेत्केतोर्दृगभावात् । तदुक्तं यामलादौ—'शिरोमात्रं विधुंतुद' इति । 'पुच्छं केतुरुदीरित' इति राहोः शिरोमात्रेऽपि दृक्सद्भावात्केतोस्तदभावादिति ॥ ५ ॥

अथ चतुर्भिर्ग्रहाणां शुभाशुभत्वमाह—

सर्व इति—त्रिकोणनेतारो नवपंचमाधिपाः सर्वे सूर्यादयो नवग्रहाः शुभफलप्रदातारः शुभा इत्यर्थः । ननु राहुकेत्वोराधिपत्याभावात्कथं नवग्रहा इति चेत्तत्राह भुवनदीपके—'यद्बुधस्य गृहं स्वोच्चं राहोस्तद्गृहमुच्यते' अन्यत्रापि—'कन्याराहुगृहं प्रोक्तं तदुच्चं मिथुनं स्मृतमिति'

अन्यच्च—राहुच्छाया स्मृतः केतुर्यत्र राशौ भवेदयम् ।
तस्मात्सप्तमगः केतुस्तद्भवं वैसारणी यत इति ॥

अत एव राहुकेत्वोः स्वगृहत्वमुच्चत्वं च युगपदेवेति सार्वजनीनम् । यथा—अतस्त्रिकोणनेतारः शुभाः पापाश्च सर्वे शुभफला एव भवंति न कदाचिदशुभफलप्रदा भवन्तीत्यवसेयम् । यदीति पादपूरणे हेत्वर्थे च । त्रिषडायानां तृतीयषडेकादशानां भावानां पतयः स्वामिनस्तु पापफलप्रदाः पापा इत्यर्थः । तेन त्रिषडेकादशानां पतयो यदि पापास्तर्हि शुभफलप्रदा न भवन्तीत्यर्थः । अत्रेयान् विशेषः—यदि चेत्तृतीयषडायपतयस्तत्र तत्र स्थिताः, तृतीयाधिपः पापा-

स्तृतीयस्थः, षष्ठाधिपः पापः षष्ठस्थः, आयाधिपः पापः आयस्थस्तर्हि अशुभफलप्रदा न भवंति, तद्भिन्नस्था एवाशुभा इत्यर्थः—तत्रापीयान् विशेषः—'वृश्चिके तु न तच्छुभ' इति अस्यार्थः यो वृश्चिकलग्ने जातस्तस्य षष्ठभवनं मेषस्तदधिपतिर्यदि मेषराशौ षष्ठस्थो भौमः स्यात्तर्हि सुतरामशुभ एवेत्यर्थः। अत्र प्रमाणानि—

'उद्दिष्टफलतत्त्वज्ञाः संति लोके बुधा अपि।
अनुद्दिष्टेपि तत्त्वज्ञा आम्नायां किंतु दुर्लभाः॥'

अत एवोक्तं—'पारम्पर्यमिदं गुरोः'। अत एवोक्तं मूले—'अस्तु वा मास्तु गणितं गुरूद्दिष्टं प्रमाणमदिति।' अत्र गणितमित्युपलक्षणम्; त्रिस्कंधे तस्यैवोत्कर्षत्वात्। अत्र केचित् त्रिकोणनेतारो यदि त्रिषडायानां पतयः स्युस्तदा पापफलप्रदा इति व्याख्यां कुर्वन्ति तदसत्। कथं कर्ककन्ययोस्तद्वत्त्वं भवत्येवेति चेत्तदन्ययोगे गगनकुसुमायमानत्वादिति ब्रूमः। कथमहो कर्के तु नवमो गुरुः षष्ठेशोऽपि गुरुरतः पापत्वाभावाच्छुभमेवागतमित्यवगन्तव्यम्। कन्यायाः पञ्चमेशः शनिः षष्ठेशोऽपि शनिः तत्र तु ते शुभमित्येव फलमागतमिति भ्रमो नोऽभिज्ञानां, तत्र शुभाशुभयोस्तुल्यफलविरोधान्नाश एव।

तदुक्तं वराहेण—

'एकग्रहस्य सदृशे फलयोर्विरोधे नाशं व्रजेत्' इत्याद्यनुशासनेनैव गतार्थत्वान्न तादृशोऽर्थः संगच्छते॥ ६॥

अथ केन्द्राधिपवशात्सदसत्फलान्याह—

न दिशन्तीति—सौम्याः पूर्णेन्दुबुधगुरुशुक्राः यदि केन्द्र-

चतुष्काधिपाः स्युस्तदा ते शुभं फलं न दिशन्ति । केन्द्राणि लग्नचतुर्थसप्तमदशमभावास्तेषामधिपा यदि भवेयुस्तदाशुभं फलं न प्रकुर्वन्ति, किन्त्वशुभमेव कुर्वन्तीत्यर्थः । क्रूराः सूर्यक्षीणेन्दुभौमशनैश्चराश्चेत्केन्द्राधिपाः स्युस्तर्ह्यशुभं न दिशन्ति, किंतु शुभफलमेव दिशन्तीत्यर्थः । कथमीदृगिति नाशङ्कनीयम् । अत्रेयं व्यवस्था—मेषलग्ने जातस्य पुंसः शुक्ले भौमशनैश्चरौ सत्फलदौ, चन्द्रशुक्रावशुभफलप्रदौ, कृष्णे चेच्चन्द्रभौमशनैश्चराः सत्फलदाः । एवं वृषे जातस्य सूर्यभौमशनैश्चराः सत्फलदाः, शुक्रस्त्वशुभफलदः । एवं मिथुने जातस्य न केऽपि शुभफलदाः । एवं कर्कतुलामकराणां मेषवत् । सिंहवृश्चिककुम्भानां वृषवत् । कन्याधनुर्मीनानां मिथुनवत् इति ज्ञेयम् । एतेन किमागतमिति द्विःस्वभावजातपुरुषापेक्षया चरलग्नजः शुभफलभोक्ता शुक्ले, तदपेक्षया कृष्णे चरलग्नजो भाग्याधिकस्तदपेक्षया स्थिरलग्नभवः सुखीति प्रथमतो मनस्याधाय शुभाशुभयोर्न्यूनाधिकत्वं ज्ञात्वा केन्द्राधिपत्यलक्षितपापग्रहदशायां प्रकृत्या पापग्रहस्याशुभत्वे सत्यप्यशुभफलं न भवति, किंतु पापदशायामपि शुभफलमेव भवतीत्यवगन्तव्यम् । एवं केन्द्राधिपत्यलक्षणालक्षितस्य शुभग्रहस्य दशायां प्रकृत्या शुभफलत्वे सत्यपि शुभफलं न भवति, किंत्वशुभफलमेव भवतीत्यवगन्तव्यम् । एवं सति द्विःस्वभावलग्नजातस्य बुधजीवदशा सर्वदैवाशुभफला न कदाचित्सत्फलदा, पापानां तु दशा प्रकृत्या शुभफला न भवत्यतः सर्वदैव दुःखी स्याद्द्विःस्वभावज इति चेन्न अत्रेयान्विशेषः—यदि चेत्केन्द्रपतयस्तत्र तत्र स्थितास्तर्हि अवि-

चारितरमणीयाः शुभाः । पापाश्चेद्विचारितरमणीयाः, यत्केन्द्राधिपो यः शुभः स यदि तत्रस्थस्तर्हि तत्केन्द्रजं फलं भावविचारितरमणीयं भवति, तद्भिन्नकेन्द्रे चेद्विचारितरमणीयं भवतीति मनस्याधाय सौम्ये केन्द्रेशे पणफरापोक्लिमस्थे सतीदृक् फलमिति तत्त्वम् । तेन यदि केन्द्राधिपाः सौम्याः पणफरापोक्लिमगा भवन्ति तर्हि नृणां शुभफलं न दिशन्ति, अथ यत्केन्द्राधिपः पापः स यदि तत्केन्द्रस्थस्तर्हि विचारितरमणीयं तत्केन्द्रजं फलं दिशति । पापे केन्द्रेशे पणफरापोक्लिमस्थे सतीदृक् फलमित्यतः शुभं फलं भवतीति वदन्ति बहवस्तत्रापीत्थं भाति—लग्नेशः पापो लग्नगः शुभफलकृत्, कर्मेशः पापः कर्मगः शुभफलकृत्, चतुर्थेशः पापश्चतुर्थगस्तद्भावफले किञ्चिन्न्यूनतां करोत्येव । एवं सप्तमेशः पापः सप्तमगो भूयो विवाहमृच्छति ! प्रबलश्चेद्भार्याभर्त्रोर्निःस्नेहकृदित्यादि-सामान्यशास्त्रावगतं फलं मनस्याधायास्मिन् ग्रन्थे यो विशेषः स एवात्रोक्तविधिना विचारणीयो बुद्धिमद्भिः । अत एवोक्तम्—

'क्रूराः कुर्वन्ति दारिद्र्यं त्रिकोणकण्टकाश्रिताः ।
एवं केन्द्रे शुभाः सर्वे सद्यो लाभकराः स्मृताः ॥'

इति पराशरजातके स्फुटवाक्यदर्शनात् । अत्र केन्द्रत्रिकोणगाः शुभाः, केन्द्रेशभिन्नाः खेटाः केन्द्रस्था ग्राह्या इति चेन्न—

'स्वर्क्षतुङ्गत्रिकोणस्था मित्रर्क्षांशगता अपि ।
यावन्त आश्रिताः केन्द्रे ते सर्वेऽन्योन्यकारकाः ॥'

इति तत्रैवोक्तत्वात् । अनन्तरं एते प्रबला उत्तरोत्तरा

इति—एते त्रिकोणनेतारस्त्रिषडायपतयः केन्द्राधिपाश्च त्रिविधास्ते हि यत्स्वकीयगणे उत्तरोत्तराः सन्तः प्रबलाः बलिनो भवन्तीत्यर्थः। एतेनैतदुक्तं भवति—त्रिकोणनेत्रपेक्षया त्रिषडायाधिपा बलिनस्तदपेक्षया केन्द्रनेतारो बलिनस्तेष्वपि पञ्चमेशान्नवमेशस्तृतीयेशात्षष्ठेशः षष्ठेशादेकादशेशः लग्नेशाच्चतुर्थेशः तस्मात्सप्तमेशस्तस्माद्दशमेश इत्यनया दिशा बलिनो ज्ञातव्याः। तदुक्तम्—त्रिकोणपतयः सर्वे त्रिषडायाधिपाः शुभाः। लग्नर्द्ध्यस्तस्वपाः पापाः बलिना स्युर्यथोत्तरमिति ॥ ७ ॥

अथेभ्य उर्वरितद्वितीयरिष्फभावयोः सदसत्फलं विवेक्तुं किञ्चिदाह—

लग्नादिति—लग्नाज्जन्मलग्नाद्व्ययाद्वितीयेशौ द्वादशद्वितीयभावस्वामिनौ परेषां तत्तच्छुभाशुभभावेशसाहचर्यतः संबन्धेन स्वशुभाशुभराश्यन्तराधिपतित्वास्थितत्वानुरूपेण च फलदायकौ भवतः शुभाशुभफलप्रदौ स्याताम्। अत्र शुभाशुभत्वमत्रोक्तरीत्यैव ज्ञेयं, नान्येभ्यो जातकशास्त्रेभ्यः। एवं च ग्रहान्तरसंबन्धस्य राश्यन्तरसंबन्धस्य स्वकीयराश्यन्तरस्य भावेन मुक्तिप्राधान्येन फलागमकत्वमूह्यम्। संबन्धलक्षणं विशेषतो वक्ष्यति पश्चात् ॥ ८ ॥

भाग्यव्ययाधिपत्येनेति—रन्ध्रेशो लग्नादष्टमभावाधीशो भाग्यव्ययाधिपत्येन भाग्यभावापेक्षयाऽष्टमभावस्य तद्व्ययस्थानत्वाद्भाग्यव्ययाधिपत्यं सिद्धमतो भाग्यव्ययाधिपत्येन हेतुना शुभफलप्रदो न भवति, किंतु भाग्यव्ययकारकत्वमेवातोऽशुभफलप्रद एव भवतीत्यर्थः। स एव ग्रहश्चेत्स्वयं

लग्नाधीशोऽपि भवेत्तस्यैव लग्नाधीशता यदि भवेत्तदाशुभ-फलसंधाता शुभफलस्यैव कर्त्ता भवतीत्यर्थः। ईदृग्योगो मेषलग्ने तुलालग्ने वा जातस्य नेतरेषामिति। एकस्यैव लग्नाधीश-रन्ध्राधीशत्वात्। एवं सत्यपि केवलं शुभो न भवति इत्य-वसेयम्। द्विस्वामिकत्वात् केवलाष्टमाधीश इव पापो न भवतीति। अथ यदि भाग्यव्ययाधिपत्यमष्टमेशस्येति दिशा सर्वेषु भावेषु अनया दिशा तत्तद्भावव्ययाधिपत्यं च ज्ञेयं यद्भावस्य व्ययाधिपत्यं येन ग्रहेण प्राप्तं स ग्रहस्तद्भावनिष्ठं यत्फलं तन्नाशको भवतीति मनस्याधाय शुभाशुभं वक्तव्यमिति सत्यप्येवं स एव यदि लग्नाधिपतिः स्यात्तर्हि तत्फलघातको न भवति। ईदृग्योगः पुत्रविषये मिथुनलग्ने धनुर्लग्ने च, लाभविषये कन्यालग्ने मीनलग्ने च, सहजविषये मकरलग्ने, शरीरादिविषये कुम्भलग्ने च। एवं जातानां नेतरेषामित्यत ईदृग्योगो मेषमिथुनकन्यातुलाधनुर्मकरकुंभमीनविषयक इति मनस्याधाय फलं विवेचनीयम्—

'अष्टमाधिपतेर्दोषस्तुलामेषे न हि क्वचित्।
अलौ षष्ठपदोषो न वृषभेऽपि न दोषभाक्॥'

इत्युक्तं लोमशमुनिनापि। लग्नाधीशोऽपि चेत्स्वयमित्य-स्यानुवर्तनं न दिशन्तीत्यारभ्य न चेत्स्वयमित्यन्तं, न तत्परतः—

'लग्नाधीशो विलग्नस्थः केन्द्रगो वा यदा भवेत्।
अविशेषेण शुभदो न तत्र क्रूरसौम्यता॥६॥ इति'

अथ त्रिभिः श्लोकैर्ग्रहानुद्दिश्य सौम्यकेन्द्रेशत्वपापत्व-रन्ध्राधिपतित्वप्रयुक्तगुणदोषानाह——

केन्द्राधिपत्येति——न दिशन्ति शुभं नृणां सौम्याः केन्द्राधिपा यदीति प्रागुक्तं तदापाततोऽसंगत एवाभाति । तथापीदृग्विषये संगत एवेति द्योतयति केन्द्राधिपत्वप्रयुक्तदोषो गुरुशुक्रयोस्तु बलवान् । तु शब्दोऽत्र वैषम्यद्योतकः, गुरुशुक्रौ केन्द्राधिपौ चेदत्यन्तमशुभप्रदावित्यर्थः । तयोः केन्द्राधिपतित्वदोषयुक्तयोर्गुरुशुक्रयोर्मारकस्थानसंस्थितिर्द्वितीयसप्तमावस्थितिर्मारकविषये बलवतीत्यर्थः । अत्र यद्यपि——'अष्टमं ह्यायुषः स्थानमष्टमादष्टमं च यत् । तयोरपि व्ययस्थानं मारकस्थानमुच्यते ।' इति वक्ष्यमाणरीत्या द्वितीयसप्तमस्थानाधीशौ मारकौ तदपेक्षया तत्र स्थितावेतौ गुरुशुक्रौ विशेषतो मारकावित्यर्थः । अयं मारकत्वविशेषस्तयोः केन्द्राधिपत्यदोषः प्रसङ्गादुक्तः ।। १० ।।

बुध इति——तदनु तदनन्तरं तयोर्गुरुशुक्रयोरनन्तरं बुधस्तद्विधः, यदि केन्द्रस्वामी बुधो भवेत्तदा तस्य गुरुशुक्राभ्यां किञ्चिन्न्यूनतरो दोषः तदनु बुधापेक्षया चन्द्रः केन्द्राधिपतिश्चेत्स किञ्चिन्न्यूनतरदोषकर्त्ता भवेदिति । न रन्ध्रेशत्वदोष इति अष्टमाधिपतित्वप्रयुक्तदोषः सूर्याचन्द्रमसोर्न भवति, अन्येषामष्टमाधिपतीनामिव सूर्यचन्द्रयोर्दोषावहत्वं न भवति किंतु अतिमन्दतरो दोषः स्यादिति गुर्वाज्ञा । कुजादीनां पञ्चानामष्टमाधिपतीनां दोषावहत्वं सुतराम् ।। ११ ।।

कुजस्येति——भौमस्य कर्मनेतृत्वे शुभकारिता प्रागुक्ता सा त्रिकोणस्वामित्वे सत्येव न तु कर्मेशमात्रेति । अयमर्थः——

यदि लग्नाद्दशमभावेशो भौमो भवेत्तदा शुभफलकारकः स्यादिति प्रागुक्तस्य बाधकोऽयमिति बोध्यम् । कर्मेशो भौमो यदि त्रिकोणस्यापि नेता भवेत्तर्ह्येव शुभफलप्रदो भवति, न केवलं कर्मेशमात्रेति । इत्थं सति कर्कलग्ने जातस्यैवायं सफलः कुंभे जातस्याफलः । अन्येषां तद्भाव इत्यवसेयम् ।

'जीवभृग्वोर्विशेषेण तदनुज्ञस्य वा विधोः ।
केन्द्रेशत्वप्रयुक्तो यो दोषोऽन्येषां न तद्भवेत् ॥
निधनेशप्रयुक्तत्वदोषः पुष्पवतोर्नहि ।
तत्तु तारांवरचराणां विमृश्येति फलं वदेत् ॥'

अन्यदपि—'चन्द्रभानू विना सर्वे मारके मारकाधिपाः ।
षष्ठाष्टमव्ययेशास्तु राहुकेतू तथैव च ॥
खरद्रेष्काणपाश्चैव तथा वैनाशिकाधिपाः × ।
विपत्ताराप्रत्यरीशौ वधभेशस्तथैव च ॥
आद्यन्तयोः खरश्चैव चन्द्राक्रान्तगृहाधिपः ।
जातके मारकाःप्रोक्ताः कालविद्भिर्मनीषिभिः' १२

अथ राहुकेत्वोः स्वतः स्थानाभावात्केनचिन्मुनिनोक्तेऽपि गृहे स्वतः प्रसिद्धगृहस्य स्वाम्यपेक्षयाऽतिदेशिको बलवान्न भवतीति न्यायात्तयोः किं फलदातृत्वमित्याशङ्क्याह—

यद्यदिति—तमोग्रहौ राहुकेतू यद्यद्भावगतौ यस्मिन् यस्मिन् भावे प्राप्तौ यद्यद्भावेशसंयुतौ यस्य यस्य भावस्याधिपतिर्यो ग्रहस्तेन संयुतौ भवतस्तौ प्रबलावतिशयेनान्यापेक्षामपहाय

× वैनाशिकं जन्मभात्त्रयोदशभम् ।

स्वतस्तद्भावफलानि प्रदिशेताम् । यदि स्वसंबन्धिनो ग्रहा बहवस्तर्हि तेषु राहुकेतुसंबन्धिषु ग्रहेषु यो ग्रहो बलवाँस्तत्फलं प्रदिशेताम् । अत्र वीक्षणारूपसंयोगोऽप्यवगम्यते इति मत्त्वा वीक्षितौ वापीति व्याख्यां कुर्वन्ति, अन्योन्याश्रयी वापि च वदन्ति । तदप्यत्र संगतिरतस्तद्भावेशसंगतावित्यपि पाठः साधुस्तेन संगतसंबंधश्चतुर्विधः । अतएवोक्तं वृद्धैः—

'व्यत्याश्रयेण संबन्धश्चान्योन्यालोकसंभवः ।
एकस्य राशौ संस्थित्यां तदीशालोकनादपि ।
सहवासाच्च संबंधा इत्येतेऽत्र चतुर्विधाः ॥' इति

अस्यार्थः प्रायः सुगमस्तथापीषल्लिख्यते—

व्यत्याश्रयसंबन्धो यस्य गृहे यो ग्रहस्तिष्ठति तदीशस्तद्गृहे चेत्स व्यत्याश्रयसंबन्धः (१) ययोर्ग्रहयोः पूर्णदृष्ट्यावलोकनं सदृक्संबंधः (२) यौ ग्रहौ यस्य द्विराशिपस्य यस्य ग्रहस्य राश्योरनवस्थित्या तदीशं स्वराशिगतं पश्यतोऽथवा तदीशस्तौ द्वौ ग्रहौ पश्यति तदान्यालोकसंबन्धः (३) संयोगसंबन्धस्तु सहावस्थितिरेवं चत्वारः संबन्धाः स्युः (४) एवं संबन्धचतुष्टयीति संबन्धचतुष्टयनिदर्शनं त्वत्रैवोपन्यस्यते झटित्युपस्थित्यर्थम् । अथ यदि सूर्यो मेषे भौमः सिंहे अयं व्यत्याश्रयः (१) मेषे भौमस्तुलायां सूर्यः अयं दृक्संबन्धः (२) भौमः सिंहसूर्यौ भौमगृहं विना कुम्भे मीने तिष्ठन् भौमदृष्टो भवत्ययमेकतरालोकसंबंधः (३) एकस्मिन्राशावुभयोरवस्थानं सहवाससंबन्धः (४) ।

'यो व्यस्ताश्रयसंबन्ध उत्तमः स प्रकीर्तितः ।

दृक्संबन्धस्ततो न्यून एकालोकस्ततोऽप्यणुः ।
ततोऽप्येककर्त्तसंबन्धश्चतुर्थोऽपि चतुर्विधः ॥'

इति चतुर्थोऽपि चतुर्विधः अस्यार्थः चतुर्थ एककर्त्तावस्थितिः एककर्त्तावस्थितयोः परस्पराभिमुखत्वम् (१) उभयोः पृष्ठत्वम् (२) न्यूनांशमुखाधिकांशपृष्ठत्वम् (३) अधिकांशमुखन्यूनांशपृष्ठत्वम् (४) तत्कथमिति, अधिकांशस्य वक्रत्वे परस्पराभिमुखत्वम् (१) अल्पांशस्य वक्रत्वेऽन्योन्यपृष्ठत्वम् (२) उभयोर्मार्गित्वेऽल्पांशमुखाधिकांशपृष्ठत्वम् (३) उभयोर्वक्रत्वेऽधिकांशमुखन्यूनांशपृष्ठत्वम् (४) अत्र संबन्धचतुष्टये राहुकेत्वोर्द्वितीयचतुर्थसंबन्धौ तृतीयाविति सार्वजनीनकः ।

यथा सूर्येन्दुभ्यां प्रथमद्वितीयसंबन्धोऽन्येषु प्रथमद्वितीयचतुर्थसंबंधौ राहुकेत्वोर्न तृतीयः ।

योऽडुदायप्रदीपाख्यटीका सज्जनरञ्जनी ।
तस्यां पूर्त्तिमगात्संज्ञाध्यायव्याख्या सुनिर्मला ॥१॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

अथ राजयोगान्वक्तुकामः सामान्यतो ग्रहयोगविशेषमाह—

केन्द्रत्रिकोणेति—केन्द्राणि १ । ४ । ७ । १० स्थानानि तेषां पतयोऽधिपा ग्रहाः त्रिकोणपती नवमपञ्चमस्वामिनौ ते केन्द्रत्रिकोणपतयः, तथा च केन्द्रपतिस्त्रिकोणपतिश्चानयोः प्रागुदिताखिलसम्बन्धेनान्योन्याश्रयसहावस्थानपरस्परवीक्ष - णान्यतरवीक्षयोः परस्परं संबन्धो नाम । एतेन केन्द्राधिपानां

त्रिकोणाधिपाभ्यां वा त्रिकोणाधिपतयो: केन्द्राधिपैर्वा संबन्ध इत्यर्थ: । इतरैस्तृतीयषष्ठैकादशाष्टमपतिभिरप्रसक्ता: संबन्धरहिताश्चेत्स्युस्तदा ते विशेषेण शुभफलदायका भवन्तीति केषांचित्स्थानमहिम्न: स्वत: शुभदायकत्वे सत्यपि परस्परसंबन्धाद्विशिष्टफलदायकत्वमस्तीति भाव: । इतरैरप्रसक्ताश्चेत्यनेन स्वकीयभावान्तरदोषोऽप्यवगम्यते । तथा च तद्रहितात्श्चेदित्यर्थ: । तैरितरैस्तृतीयषष्ठाष्टमैकादशस्वामिभि: प्रसक्ताश्चेत्तादृशफलाधिकप्रदा न भवन्ति, किं च तादृशफलाभासमेवाल्पतरस्थितिकं वा कुर्वन्तीति भाव: इतरधात्वनुसारेण विघ्नाकुलत्वं च ॥ १४ ॥

एवं सामान्यतो ग्रहयोगमुक्त्वा सप्तभि: पद्यै राजयोगानाह—

केन्द्रत्रिकोणनेताराविति—एते प्रबला उत्तरोत्तरा इति पूर्वोक्तत्वात् स्वयं दोषयुक्तावपि पुन: साहचर्यादिभिर्दोषैर्युक्तावपि संबन्धमात्रात्सहावस्थानादन्योन्यसंबन्धमात्रेणापि बलिनौ योगकारकौ भवेताम् । अत्रायं भाव:—यदि केन्द्रस्वामी शुभ: स्यादथवा केन्द्राधिपतीनां त्रिकोणस्वामिनोर्वा त्रिषडेकादशाष्टमाद्यन्यतमाधिपत्यमपि चेत्तदाप्यन्योन्यसंबन्धमात्रेण बलिनौ भूत्वा राजयोगकारकौ भवत इति । अत्र संबन्धसत्वे संबन्धेतरासत्वं संबन्धमात्रत्वमिति नियमान्मात्रशब्दोऽवधारणार्थकस्तेन संबन्धमन्तरा न योगकरौ केचित्तु संबंधमात्रपदादन्योऽन्याश्रयसहावस्थानसंबन्धावेव गृह्णन्ति ॥ १५ ॥

अथोक्तात्प्रबलराजयोगमाह—

निवसेतामिति—धर्मकर्मणोरपि व्यत्ययेन चेद्यदि तावुभौ धर्मकर्माधिपती निवसेतां तदा योगकारकौ भवेताम् (१)

उभौ तावनयोर्वैकत्र वा यदि निवसेतां तदापि योगकारकौ (२) अन्यतरः स्वकीयभावे वसेत्तदापि योगकारकौ (३) अत्र त्रयो योगाः संपद्यन्ते, ते च यथा नवमभावेशो दशमे, दशमभावेशो नवमे चेत्तदैको राजयोगः (१) तावुभावेकत्र नवमभावे दशमभावे वा तिष्ठेतां तदा द्वितीयो राजयोगः (२) धर्मेशो धर्मभावे, कर्मेशः कर्मभावे चेत्तदा तृतीयो राजयोगः (३) एते त्रयो राजयोगाः प्रबला ज्ञेयाः । तदुक्तं वृद्धैः—'धर्मकर्मपयोर्धर्मे कर्मण्यन्योन्यभद्वये । स्थितिश्चेत्प्रबलो राजयोगः स्यात्त्रिःप्रकारतः' इति । अत्रानुक्तोऽपि विशेषो वृद्धैरुपबृंहितः तद्यथा—

'धर्मकर्मपयोः केन्द्रे त्रिकोणे स्वोच्चमित्रभे ।
सहावस्थानतो वापि राजयोगो भवत्यसौ ॥
तपःस्थानाधिपो मन्त्री दशमेशो नृपः स्वयम् ।
उभावन्योन्यसंदृष्टौ जातश्चेदिह राज्यभाक् ॥
यत्र कुत्रापि संयुक्तौ तौ वा सप्तमसप्तमौ ।
राजवंशोद्भवो बालो राजा भवति निश्चयम्' ॥१६॥

अथ राजयोगान्तरमाह—

त्रिकोणाधिपयोरिति—त्रिकोणयोरधिपौ नवमपञ्चमेशौ तयोर्मध्ये येन केनापीत्यनेन पञ्चमेशेन नवमेशेन वा केनापीत्यर्थः । बलिनः केन्द्रनाथस्य कर्माधिपतेः, कथमत्र कर्माधिपतेर्ग्रहणं केन्द्रपदेन प्राप्तानां चतुर्णां मध्ये त्रयाणां त्यागे किं मानमिति चेत्केन्द्रनाथपदं विशेष्यं बलीति पदं विशेषणं यतः केन्द्रेषु सर्वापेक्षया बली दशम एवेति प्रबला ह्युत्तरोत्तरा

इति प्रतिज्ञातत्त्वात् । दशमाधिपस्य यदि संबन्धो भवेत्तदा स योगकृद्राजयोगकारक इत्यर्थः । अत्र येन केनेत्युक्तत्वात्कै-मुतिकन्यायेनोभाभ्यां यदि संबन्धस्तदा तदपेक्षयाधिको राजयोगोऽवसेय इति तदुक्तम्—'दशमभवननाथे केन्द्रकोणेशयुक्ते बलवति सतियोगस्तत्र सिंहासनेश' इति । अत्र प्रोक्तयुक्तपदेन संबन्धचतुष्टयी लक्ष्यते । तदुक्तं वृद्धैः—

'धर्मकर्मेशसंबन्धौ लग्नेशेनाथवा भवेत् ।
केवलं वा तयोर्वापि राजयोगोऽयमीरितः' ॥ १७॥

अथ प्राप्तराजयोगे कदा तत्फलपरिपाक इत्यत आह—

दशास्वपीति—प्रायशो बहुधा योगकारिणोर्ग्रहयो राजयोग-कर्त्रोस्त्रिकोणकेन्द्रेशयोर्दशासु दशाविदशादिसंबन्धेन यदा योगो भवेत्तदैव राज्यलब्धिरिति । अत एवोक्तं वराहेण—

'कर्मलग्नयुतपाकदशायां राजलब्धिरथवा प्रबलस्येति'
अन्यदपि—'स्वां स्वां दशामुपगताःस्वफलप्रदाःस्युरिति ।'

अथेदृग्योगाभावेऽपि तत्फलपरिपाककालं पक्षान्तरेणाह—

दशाद्वयीति—योगकारिणोर्द्वयोर्ग्रहयोर्दशा युगपन्न संभव-तीत्यतो दशाद्वये भवत्येव योगकृत्केन्द्रेशदशा योगकृत्त्रिकोण-दशा चेत्यनेन दशाद्वयं द्वित्वं तदस्यास्तीति दशाद्वयी । एवं-लक्षणलक्षितो यस्तदयुक् ताभ्यां केन्द्रत्रिकोणाभ्यां अयुक् अयोगोऽन्योन्याश्रयादिसंबन्धरहितः । स यदि सर्वे त्रिकोण-नेतारास्त्रिषडायाधिपाः शुभाः केन्द्रपतयः पापाश्च प्राक् शुभ-कारिणउक्तास्तेषां शुभकारिणां पश्चाद्दिदशान्तानां भावाधिप-तीनां शुभफलप्रदत्वलक्षितानां मध्यगतः कश्चिद् ग्रहः स्यात्स

यदि योगकारिणोर्द्वयोर्ग्रहयोर्दशासु विदशाप्रदः स्यात्सोऽपि राज्यप्रदः स्यात् । अत्रेत्थं भावः—संबन्धिग्रहान्तर्दशापेक्षया किञ्चिन्न्यूनोऽवगन्तव्य इति ॥ १८ ॥

अथ प्राप्तराजयोगस्य पाककालं शुभानामन्तरेषु प्रोक्त्वा पापिनामपि तत्प्राप्तिज्ञानमाह—

योगकारकसंबन्धादिति—स्वतःपापिनोऽपि तृतीयषष्ठाया-धिपतयोऽपि योगकारकसंबन्धाद्योगकारकस्य ग्रहस्य प्रबल-संबंधेन तत्तद्भुक्त्यनुसारेण राजयोगकारकभुक्तिप्रधानतया योगकारकदशया कृत्वा यौगिकं राजयोगसंबन्धिफलं दिशेयुः दद्युरित्यर्थः । अयं भावः—स्वलक्षणाविधेः पापिनोऽपि ग्रहा राजयोगकर्त्रा ग्रहेण केन्द्रत्रिकोणाधिपाद्यन्यतमेन ताभ्यां वा प्रागुक्तलक्षणसंबन्धचतुष्टयरीत्या प्रबलसंबन्धश्चेद्यदि कुर्वन्ति तदा ते स्वदशायां संयोगकर्तुर्ग्रहस्यान्तर्दशा यदायाति तदैव योगकारकग्रहभुक्तिप्राधान्येन राजयोगफलं दिशन्तीत्यर्थः । ते यदि बहवस्तत्र सर्वापेक्षया यो बलवाँस्तद्दशायां योगकर्तु-र्ग्रहस्यान्तर्दशा यदाऽयाति तत्र सुतरां राज्यलाभफलमवगन्त-व्यम् । अन्येषामीषन्मध्यमबलवद्ग्रहाणां दशासु योगकर्तु-र्ग्रहस्यान्तर्दशा यदाऽयाति तत्र तद्बलानुसारेण राजादिसहायतो यौगिकं फलं भवतीत्यवगन्तव्यम् ॥ १९ ॥

अथ प्राप्तराजयोगप्राप्तिकालं निरूप्य भूयोऽपि योगान्तरमाह—

केन्द्रत्रिकोणेति—केन्द्रपाः १ । ४ । ७ । १० स्थाना-धिपाः त्रिकोणाधिपाः ५ । ९ स्थानेशास्तयोरैक्ये ते सर्वे योग-कारका भवन्तीत्यर्थः । तेन त्रिकोणाधिपयोरैक्ये वृषलग्ने नवमेशदशमेशयोरैक्यत्वेन शनिर्भवति । कर्कलग्ने दशमपञ्च-

मेशयोरैक्यत्वेन भौमः । सिंहलग्ने चतुर्थनवमेशयोरैक्यत्वेन भौमः। एवं तुलालग्ने चतुर्थपञ्चमेशयोरैक्येन शनिः। मकरलग्ने पञ्चमदशमयोरैक्यत्वेन शुक्रः। कुम्भलग्ने चतुर्थनवमेशयोरैक्येन शुक्रः । अतो वृषे शनिः, कर्कसिंहयोर्भौमः, तुले शनिः, मकर-कुम्भयोः शुक्र एतेऽन्यापेक्षामपहाय स्वतो राजयोगकारका भवन्ति । अथायं योगकृद्ग्रहोऽन्यात्रिकोणपतिना केन्द्रत्रिकोणा-धिपत्यप्रयुक्तो यः स्वयं राजयोगकृद्ग्रहो यदि एकाधिपत्यभिन्न-त्रिकोणपतिना संबन्धकृत्स्यात्ततःपरं किं वाच्यं किमपि नेत्यर्थः। अत्रोदाहरणम्—केन्द्रं वृषलग्ने जातस्य दशमं त्रिकोणं नवमं तयोरधिपः शनिः, अन्यत्त्रिकोणं कन्या तदीशो बुधस्तेन बुधेन यदि संबन्धः प्रागुक्तचतुर्थेष्वेकः स्यात्तर्हि वृषे जातस्य प्रबलराजयोगः स्यादित्यनया रीत्या सर्वत्र योजनीयम् । अथवा केन्द्रपतिना नवमपञ्चमाधिपयोरेकोऽपि यदि संबन्धं करोति तावुभौ राजयोगकारकौ भवतः । तत्राप्यन्योऽपि त्रिकोण-पतिर्यदि संबन्धं करोति तत्र परं किं वाच्यम् । एवं द्विकेन्द्राधि-पत्योरेकेन त्रिकोणपतिना यदि संबंधः स्यात्तदा ततोऽप्यधिक-राजयोगः । एवं त्रयः केन्द्राधिपतयश्चैकेन त्रिकोणपेन द्वित्रिकोणपाभ्यां वा संबन्धश्चेत्ततोऽप्युत्कटराजयोगा भवन्ती-त्यभिप्रायः । योगाधिगुण्येन फलागमकत्वमूह्यम् ॥ २० ॥

अथ तमोग्रहौ कथं योगकारकौ भवेतामित्याह—

यदीति—तमोग्रहौ राहुकेतू केन्द्रे वा त्रिकोणे निवसेतां तिष्ठेतां तदा योगकारकौ भवेताम् । एवं विधावपि तमोग्रहौ केन्द्रत्रिकोणानां मध्येऽन्यतरस्य नाथेन संबन्धादेवेत्यनेन केवलं योगकारकौ भवतोऽन्यथा नेति । अयमर्थः—राहुकेतू त्रिकोण-

स्थौ चेत्केन्द्रपतिना केन्द्रस्थौ चेत्त्रिकोणपतिना सह संबन्धा-द्योगकारकौ भवतो नान्यथा, अत्र प्रबलस्थानप्रबलग्रह-संबन्धानुगुण्येन तयोर्विशेषफलागमकत्वमस्तीत्यवगन्तव्यम्। अत्र राहुकेत्वोः केन्द्रावस्थानं युगपद्भवति त्रिकोणावस्थानं तु युगपन्न भवति, इति मनस्याधाय केन्द्रस्थयोस्तयोस्तयोः फलं प्रबलं त्रिकोणस्थयोः किञ्चिन्न्यूनमिति बुद्धिमद्भिरवसेयम्। अत्रान्यतरशब्दान्तिमश्चैव शब्दोऽर्थसंगत्या अन्वयार्थक्रमेण संबन्धशब्दात्पुरःसरो बोध्यः, संबन्धादेव नान्यथेति भावः॥२१॥

अथ राजयोगभङ्गकृद्योगमाह—

धर्मकर्माधिनेताराविति—धर्मकर्माधिनेतारौ नवमदशमेशौ यदि रन्ध्रलाभाधिपौ स्यातां तदा राजयोगं न लभते न प्राप्नोतीत्यर्थः। तयो रन्ध्रलाभाधिपयोः संबन्धमात्रेण केवलं संबन्धेन नरो योगं न लभते। अत्रोक्तमात्रपदस्यान्वयेनान्य-योगकारकसंबन्धाद्योगं प्राप्नोतीत्यर्थः। तेन नवमभावस्वामी स एवाष्टमाधीशोऽपि चेद्भवेत् यो दशमभावाधीशः स एव लाभाधिपोभवेत्तदा राजयोगभङ्गः स्यात्। एवं प्रथमोदितौ भङ्गौ मेषलग्ने मिथुनलग्ने च सर्वदैव भवेतां, वृषलग्ने नवमेशः शनिरष्टमेशो गुरुरनयोःसंबन्धात् कर्मेशःशनिर्लाभेशोगुरुरनयोः संबन्धात्। एवं कर्के नवमेशो गुरुरष्टमेशःशनिः, कर्मेशो भौमो लाभेशः शुक्र अनयोः संबन्धात्, सिंहलग्ने धर्मेशरन्ध्रेशौ भौमगुरू कर्मलाभेशौ बुधशुक्रावनयोः संबन्धात्। कन्यायां धर्मरन्ध्रेशौ शुक्रारौ कर्मलाभेशौ बुधचन्द्रौ। तुले धर्मरन्ध्रेशौ बुधशुक्रौ कर्मलाभेशौ चन्द्रार्कौ। वृश्चिके धर्मरन्ध्रेशौ चन्द्रबुधौ कर्मलाभेशौ सूर्यबुधौ। धनुषि धर्मरन्ध्रेशौ सूर्यचन्द्रौ

कर्मलाभेशौ बुधशुक्रौ। मकरे धर्मरन्ध्रेशौ बुधसूर्यौ कर्मलाभेशौ शुक्रारौ। कुम्भे धर्मरन्ध्रेशौ शुक्रबुधौ, कर्मलाभेशौ भौमगुरू, मीने धर्मरन्ध्रेशौ भौमशुक्रौ कर्मलाभेशौ जीवशनी अनयोः संबन्धात्प्रतिराशौ द्वौद्वौ राजयोगभङ्गौ भवत इति मनस्याधाय धर्मरन्ध्रपयोः संबन्धादेकः कर्मलाभेशयोःसंबन्धादपरो राजयोगभङ्गः स्यात् । अत्र संबन्धाग्रगमात्रशब्दस्य तयोरिति पदस्याग्रगामित्वयोग्यतया सत्यपि तत्संबन्धे अन्ययोगकर्तृसंबन्धेन न योगभङ्ग इत्यवगम्यते ॥ २२ ॥

योऽडुदायप्रदीपाख्यटीका सज्जनरञ्जनी ।
तस्यां पूर्तिमगाद्राजयोगव्याख्या सुनिर्मला ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।
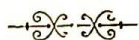
अथायुर्दायो व्याख्यायते ।

तत्रादावायुषः स्थानं मारकस्थानं चाह—

अष्टमिति—अष्टमं जन्मलग्नादष्टमं स्थानमायुषः स्थानं भवति, अष्टमादष्टमं जन्मलग्नात्तृतीयं स्थानं चायुषः स्थानं भवति तद्वयमायुषः स्थानमितियावत् । अथ च तयोरपि अष्टम तृतीयभावयोर्व्ययस्थानं द्वादशस्थानं जन्मलग्नात्सप्तमाद्वितीय भवनमिति यावत्तन्मारकस्थानमुच्यते सप्तमद्वितीययोर्मारक संज्ञेति भावः । तदुक्तम्—

'शरीरादष्टमं ह्यायुर्मृत्योर्मृत्युश्च जीवनम् ।
मारकं तद्विजानीयादायुर्जीवनयोर्व्ययम् ॥

अत्रोक्तम्—मृत्यौ पापयुते मृत्युर्दीर्घायुः क्रूरयुक्तभे।
तयोर्बलाबलं ज्ञात्वा वदेदायुर्बलं स्फुटम्'॥२३॥

अथ तयोर्मध्ये बलाबलत्वमाह—

तत्रापीति—तयोर्लग्नात्सप्तमद्वितीययोर्मारकस्थानयोर्यदाद्यस्य व्ययस्थानं सप्तमभवनं तदपेक्षयोत्तरं व्ययस्थानं लग्नाद् द्वितीयभवनं बलवत्तरं भवति। अत्र जन्मलग्नादारभ्य गणनया द्वितीयापेक्षया सप्तमस्यैवोत्तरत्वात्तदपेक्षया कथं द्वितीयस्योत्तरत्वमिति चेदुच्यते—आयुःस्थानत्वेन प्रथमतो वीक्षितस्याष्टमस्य व्ययस्थानत्वात्सप्तमस्याद्यत्वं तदपेक्षया द्वितीयपर्यायेण निर्दिष्टस्यायुःस्थानस्य तृतीयस्य व्ययस्थानभूतं द्वितीयभवनमुत्तरं भवति। तस्मादुत्तरोत्तरं प्रबल मिति न्यायेन द्वितीयस्य प्रबलत्वं सिद्धं, अतः सप्तमापेक्षया द्वितीयस्य प्रबलतेति भावः।

तदीशितुरिति—तत्रापीयान् विशेषः—द्वितीयापेक्षया तत्रगता द्वितीयस्थानप्राप्ता ये पापास्तदपेक्षया द्वितीयस्थितानां मध्ये यः पापस्तदपेक्षया द्वितीयेशेन संयुता ये पापाश्चेत्यनया दिशा यथोत्तरं बलिनो भवन्ति। एवं बलवत्तरं ज्ञात्वा तदीशितुर्द्वितीयस्थानस्वामिनो दशाविपाकेषु नृणां मनुष्याणां निधनं मरणं वाच्यम्। अथवा तत्र गता ये पापिनस्तत्र द्वितीये मारकस्थाने गताः स्थिता ये पापिनः पापग्रहास्तेषां दशाविपाके संभवे सति निधनं मरणं वाच्यम्, अथवा तेन मारकेशेन युताः संबन्धिनो ये पापिनस्तेषां दशाविपाके संभवे सति मरणं वाच्यं संबन्धसंभवाभावे न तद्दशायां मरणमित्यभिप्रायः। तदुक्तम्—

'लग्नादस्तं द्वितीयं भवति मृतिपदं तत्र ये पापखेटाः।
तन्नाथेनाथ युक्तास्तदधिपतिदशास्वेव मृत्युं दिशन्ति' २४

तेषामिति—तेषां मारकस्थानस्थितानामभावे व्ययाधीश-संबन्धिनां व्ययाधिपानां दशाविपाकेषु नृणां निधनं भवेत्, तेषामसंभवे साक्षाद्व्ययाधीशदशायामपि निधनं भवेत्, अत्रोक्तेनापि शब्देन व्ययाधीशसंबंन्धिनां पापिनां दशास्वपि मरणं भवेदिति वाच्यम्। इदं सर्वं दीर्घमध्याल्पायुषां भेदेन त्रयाणां त्रैविध्यमतो नवविधं तत्रापि त्रैविध्येन सप्तविंशतिविधं तदपि त्रैविध्येनाष्टोत्तरशतविधं तदपि राशिप्रतिभेदेन षएणवत्युत्तर-द्वादशशतविधं भवति इत्युक्तं बृहत्पाराशरीये। गौरव-भयान्नात्र लिखितम्। सामान्यतो दीर्घमध्याल्पायुषां भेदा जैमिनीयसूत्रभाष्यकृतोपन्यस्ताः सन्ति। किञ्चित्सर्वार्थ-चिन्तामणिकृताप्युपन्यस्ताः तदखिलं तत्तद्वलोक्यावगन्तव्यम्। प्रकृते तज्ज्ञानं कथमिति किञ्चिल्लिख्यते—उक्तं जैमिनीयसूत्र-कारिकायाम्—

'चरे—चरस्थिरद्वन्द्वाः,स्थिरे—द्वन्द्वचरस्थिराः।द्वन्द्वे—स्थिरो भय-चरा दीर्घमध्याल्पकायुषः॥' तत्सर्वमायुः पितृदिनेशा-भ्यामित्युपक्रम्य संवादात्प्रामाएयमित्यन्तैः सूत्रैः सम्यक् प्रतिपादितमस्ति। तदपवादोऽप्युक्तो द्वितीयाध्यायस्य द्वितीय-पादे, पुनस्तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे तदपवादारिष्टसंभवासंभवोऽतिविस्तरेण प्रपञ्चितोऽस्ति। सर्वार्थचिन्तामणिकृताऽन्य-पक्षमपहायेषदुक्तयेद्गुक्तं—तद्यथा—

'अल्पायुर्लग्नपे भानोः शत्रौ मध्यं तु मध्यमे।

मित्रे लग्नेश्वरे तस्य दीर्घमायुरुदाहृतम् ॥'

तेन सिंहराशौ जातस्य सदैवामितायुः स्यादिति भात्यतोऽयं विचारो दिवाजातस्य लग्नेशसूर्ययो रात्रिजातस्य लग्नेशचन्द्रयोरिति वदन्ति केचन तदपि न समञ्जसं, रात्रिजातस्य कर्कलग्ने तादृगेव स्यादतः फलादेशाय ग्रहाणां शत्रुराशयो वृद्धैरुक्तास्ते च यथा—

'सितासिताश्च युग्माश्च सूर्यस्य रिपुराशयः ।
कौर्पितौलिघटाश्चेन्दोर्भौमस्य रिपुराशयः ॥
घटमीननृयुक्तौलिकन्या ज्ञस्य ततः परम् ।
कर्कमीनालिकुम्भाश्च राशयो रिपवः स्मृताः ॥
वृषतौलिनृयुक्कन्या राशयो रिपवो गुरोः ।
सिंहालिकर्कचापाश्च शुक्रस्य रिपुराशयः ॥
मेषसिंहधनुःकौर्पिकर्कटाः शनिशत्रवः ॥'

एवं सर्वेषां ग्रहाणां राशिं ज्ञात्वा शत्रुसंयोगे स्वल्पायुस्त्वमित्युक्तं तदेव विशदीकृत्योक्तं केनापि तद्यथा—

'सूर्येज्यमित्रं समभं सितेन्दुजे-
न्दूनां शनिद्विड्भवनं कुजस्य यत् ।
अर्केज्ययोर्द्विट् सममिन्दुभौमयोः
शनिज्ञयोर्मित्रभमास्फुजिद्गृहम् ॥
दिनेशभं वै सितसौरयोर्द्विषन्
मित्रं परेषां न समोऽस्य कर्हिचित् ।

चन्द्रारशुक्रार्किसमं दिशारयो-
र्हितं हितं देवपुरोधिसंभवम् ॥
मित्रं सितेन्द्वर्कभुवां कुजेज्ययो-
ररिर्दिनेशस्य समं बुधगृहम् ।
ज्ञार्क्यास्फुजिद् द्विट् हितकृद्रवीज्यभू-
भुवां निशानाथनिकेतनं स्मृतम् ॥
सितस्य मित्रं त्वहितं रवेस्तु समं परेषां रविजस्य सद्म ।
स्वर्क्षत्रिकोणोच्चविनिम्नभानि ज्ञात्वा वदेत्खेटबलं स्वबुद्ध्या ॥
एवं ग्रहाणां हितमध्यशत्रुसंयोगतो दीर्घसमाल्पमायुः ।
ज्ञात्वा पृथक् तद्युतितोऽवशिष्टं दीर्घं समं चाल्पमुदीरयेद्वै ॥'

अत्रायुर्भेदास्त्रिविधाः—

द्वात्रिंशद्वर्षमल्पायुर्मध्यमायुस्ततो भवेत् ।
चतुःषष्ट्या पुरस्तात्तु ततो दीर्घमुदाहृतम् ॥

इत्यनेनाल्पायुःप्रमाणं ३२ मध्यायुःप्रमाणं ६४ दीर्घायुर्मानं ९६ ॥

अन्यच्च—

षट्त्रिंशात्पूर्वमल्पायुर्मध्यमायुस्ततः स्मृतम् ।
द्विसप्तत्याः पुरस्तात्तु ततो दीर्घमुदाहृतम् ॥

इत्यनेनाल्पमध्यदीर्घायूंषि ३६।७२।१०८

चत्वारिंशाब्दतः पूर्वमल्पायुश्च ततोऽधिकम् ।
अशीत्यब्दावधि प्रोक्तं दीर्घं तदधिकं विदुः ॥

इत्यनेनाल्पमध्यदीर्घायूंषि ४०।८०।१२० अतो योगिन्यामल्पादि २८।६४।१००, बृहति ३६।७२।१०८, अष्टोत्तरी २५।५१।८७ बृहति ३६।७२।१०८, विंशोत्तरीयेऽल्पे २०।६०।१००, बृहति ४०।८०।१२० भेदाः शास्त्रे उपन्यस्ताः सन्तीति कथमीदृगिति शङ्कानिवृत्तिर्गणिताद्भवत्येवेति दिक् ॥ २५ ॥

अलाभ इति—

एते तेषां पुनर्व्ययेशव्ययस्थितव्ययेशसंबन्धिनां पापिनामलाभे व्ययेशितुः संबन्धेन व्ययाधीशस्य संबन्धेन शुभानां च योगकारकव्यतिरिक्तशुभग्रहाणां दशासु क्वचित्कदाचिन्मरणं वाच्यम् । क्वचिदिति भिन्नक्रमः ।

अथैषामलाभे चकाराच्छुभानामप्यसंभवे अष्टमेशदशासु जन्मलग्नतोऽष्टमभावपतिदशासु क्वचित्कदाचित्स्यादित्यर्थः । मरणमितिशेषः, अष्टमेशस्याप्यलाभेऽष्टमस्थाष्टमेशसंबन्धिनां पापिनां दशासु मरणमिति केचिन्नव्याः—

अत एवोक्तम्—

'धनेशतत्स्थारिगपापयोगा जायेशतत्स्थारिगपापयुक्ताः ।
षष्ठाष्टमद्वादशभावनाथास्ते हेतवो मृत्युफलस्य चोक्ताः ॥'

अन्यदपि—

'यो लग्नाधिपतेः शत्रुर्लग्नेशान्तर्दशां गतः ।
करोत्यकस्मान्मरणं सत्याचार्यमतं त्विदम् ॥

अन्यच्च—

'राह्वारयोश्चारशन्योश्चार्कशन्योर्ज्ञचन्द्रयोः ।
शुक्रेज्ययोः समायोगे दशारिष्टं विदुर्बुधाः' ॥ २६ ॥

केवलानामिति । मारकलक्षणलक्षितानामदर्शनेऽनागमे केवलानां पापानां मारकसंबन्धरहितानामपि पापानां दशासु कदाचिन्मरणं कल्पनीयम्, अयं भावः यस्य जन्मनि प्रागुक्त-मारकलक्षणलक्षितो ग्रहो न दृश्यते स केवलपापी न केनापि प्रकारेण सत्फलदो यो ग्रहस्तस्यैव दशायां कचिन्मरणं वाच्यम् । तदुक्तम्—

'शून्याध्वगः पापखगः पापान्तस्थोऽरिगेहगः ।
नीचगो वा मारकः स्यान्मारकाणामदर्शने' ॥२७॥

मारकैरिति । अथ यस्य द्वौ त्रयो वा मारकास्तत्रेयान् विशेषः—पापकृदित्यनेन पापलक्षणलक्षितः शनिर्मारकैः सह संबन्धादितरमारकान् सर्वानतिक्रम्य स्वयमेव निहन्ता भवतीत्यर्थः, अत्रैवकारो निश्चयार्थः । इतरान् सर्वानित्यनेन सापेक्षया पूर्वमागतान् पश्चाच्चागन्तुयोग्याननेकान्मारकानतीत्य स्वयमेव शनिर्निहन्ता भवतीत्यनेनान्यमारकापेक्षया शनेः प्राबल्यं दर्शितं, पुनश्च न संशय इत्यनेनास्मिन्नर्थे संशयो नास्तीत्यर्थः । अत्रोपात्तातिक्रम्येतिशब्देनाक्रमणं कृत्वेत्यर्थोऽतः शनेरपेक्षया पूर्वमारकानातिक्रमणं कृत्वा तत्तन्मारकदशान्तर्दशासु प्राप्तो यो रोगस्तेनैव रोगेण तन्मारकदशान्तर्दशाप्राप्तं कालमतिक्रम्य स्वदशान्तर्दशासु शनिरेव मारको भवतीति ज्ञेयं बुद्धिमद्भिरिति ॥ २८ ॥

अथात्र त्रिविधासु दशासु विंशोत्तरीदशैवग्रन्थकृता स्वीकृतास्तीत्युक्तम् । सा च विंशोत्तरी त्रिविधा—

आद्यस्यैवानुपातः (१) सर्वेषामनुपातः (२) सर्वेषां त्र्यंशेनानुपातश्चेति (३) तद्यथास्यैव—

'आद्यदशाधिपवर्षविनिघ्ना भुक्तघटीखरसैः६०परिलब्ध्वा ।
आद्यदशाधिपवर्षविशुद्धा वर्षमुखा खलु वर्षदशा स्यात्॥'

सर्वेषामनुपातो यथा—

'जन्मोडुभुक्तघटिकाः खार्कघ्नाः खनवोद्धृताः ।
खार्कशुद्धाः परायुः स्यात्प्रोक्तेयं परमायुपि ॥' इति

दशाक्रमः पराशरजातके—

'रवीन्द्वाराहिजीवार्किबुधकेतुसिताः क्रमात् ।
आग्नेयाद्धदशेशाः स्युः स्वामिनां वत्सराः क्रमात् ॥
षट्दशसप्तधृतयो नृपा एकोनविंशतिः ।
अत्यष्टिः सप्त च नखाः सूर्यादीनां च वत्सराः ॥'

तदेव विशदीकृत्योक्तं गौरीजातके—

हिताय सर्वसत्त्वानां जातकं ब्रूहि शंकर ।
आयुर्दायविधानेन दशाफलक्रमेण च ॥
एवमुक्तस्तु पार्वत्या शंकरः प्रत्यभाषत ।
उवाच वचनं प्रीत्या शृणु पार्वति निर्णयम् ॥
नवग्रहा इमे ख्याताः सूर्यसोममहीसुताः ।
राहुः सुरगुरुः सौरिः सौम्यःकेतुः सितस्तथा ॥

एते प्राणभृतामायुः प्रयच्छन्ति वरानने ।
षड्वर्षाणि दिनेशस्य दश चन्द्रस्य सुव्रते ॥
सप्तवर्षाणि भौमस्य राहोरष्टादशैव तु ।
गुरोः षोडश विज्ञेयाः सौरस्यैकोनविंशतिः ॥
सप्तदशबुधस्योक्ता सप्तकेतोश्च वत्सराः ।
विंशतिर्भार्गवस्योक्ता दशा भुक्तिक्रमेण तु ॥
शतं विंशतिसंयुक्तं परमायुः प्रकीर्तितम् ।
नवर्क्षाण्यग्निभाद्यानि त्रिरावृत्यानि सुन्दरि ॥
अधोऽधः स्थापयेत्कोष्ठे नवके विमलानने ।
संस्थाप्य तदधः सूर्याच्छुक्रान्तान्नव खेचरान् ॥
दशाफलानि क्रमशो दैववित्सम्प्रुदादिशेत् ।
आद्यस्यैवानुपातोऽयं मुख्यपक्ष उदाहृतः ॥
जन्मर्क्षगतनाडीघ्नमाद्यखेटस्य हायनम् ।
खरसैः परिलब्धं यत्तदाद्यब्दविशोधनम् ॥
भवेद्भर्भदशाधीशदशामानं स्फुटं प्रिये ।
सप्तविंशतिऋक्षेषु यत्र भे जन्म जायते ॥
तद्धीनमादितः कृत्वा कर्तव्या गणना बुधैः ।
नक्षत्राधःस्थितो यः स्यात्तस्यैवाद्यादशाभवेत्॥
ततः क्रमेण चान्येषां दशाद्यन्तर्दशा भवेत् ।
अन्तर्दशादिनिर्माणविधिस्त्वीदृक् शृणु प्रिये ॥
स्फुटमायुर्हतं खेटमानेन विभजेत्सुधीः ।

परमायुः प्रमाणेन दशा अन्तर्दशा अपि ॥
दशाद्यैश्चैव पूर्वोक्तैर्विधिनान्तर्दशा भवेत् ।
ततोऽपि विदशाः कार्याः फलज्ञप्त्यै विशेषतः ॥
ततः सूक्ष्मदशास्तेभ्यः कुर्यात्प्राणभृतां ततः ।
दशान्तर्दशा चेत्थं विदशाः सूक्ष्मदशास्तथा ॥
ततः प्राणदशाः कार्याः यत्नतः फलसिद्धये ।
दशा चान्तर्दशा चैव विदशोपदशा तथा ॥
प्रसाध्यैवं फलं ब्रूयात्तासां शास्त्रानुसारतः' ॥ इति

दशासाधनम्—

मानं षडास्तं भृगुजस्तदर्धं चन्द्रस्तदांशांशमितप्रमाणैः ।
क्रमाद्विहीनोभृगुजःशनिःस्यात्ततस्तमश्चन्द्रसुतोऽथजीवः॥
ज्ञ चन्द्रयोरन्तरमत्र भौमः केतुश्च सूर्यस्त्वथ तेन हीनः ।
यद्वा प्रमाणाभ्रदिनेशभागं स्वस्वप्रमाणैर्गुणितं प्रमाणम्॥

षडंशांशो भवेच्छुक्रस्तदर्धं रजनीपतेः ।
तद्दशांशः क्षेपकः स्यात्क्षेपेनोनस्तु सूर्यजः ॥
पुनस्तेनोनितो राहुस्त्रिभक्तः स तु भास्करः ।
भास्करेन्दुयुतेर्जीवो जीवः क्षेपयुतो बुधः ॥
भास्करः क्षेपयुग्भौमस्तत्तुल्यः केतुरुच्यते ।'

यद्वा—

'प्रमाणं स्वस्वमानघ्नं खसूर्यैश्च विभाजितम् !
दशामानं भवत्येषां तथैवान्तर्दशामितिः' ॥ २३ ॥

योऽड्डुदायप्रदीपाख्यटीका सज्जनरञ्जनी ।
तस्यां पूर्त्तिमगादायुर्दायव्याख्या सुनिर्मला ॥

इति सज्जनरञ्जन्यां तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ दशान्तर्दशाफलकथने यो विशेषस्तं विवक्षुः प्रथमतोऽन्तर्दशाभुक्तिलक्षणान्याह—

न दिशेयुरिति । सर्वे ग्रहाः सूर्यादयो नव स्वदशासु स्वभुक्तिषु स्वीयदशामध्ये स्वान्तर्दशासु नृणां मनुष्याणां आत्मभावानुरूपतः स्वकीयभावानुगुण्येन शुभाशुभं न दिशन्ति आत्मभावानुगुण्येन यच्छुभाशुभफलमागतं तन्न दद्युरिति किन्त्वेतद्ग्रन्थोक्तरीत्यागतं फलं दद्युरिति भावः ॥ २६ ॥

एवं सति कदा दिशन्तीत्यपेक्षायामाह—

आत्मेति । आत्मसंबन्धिनो ये ग्रहास्तेषामन्तर्दशास्वेव स्वदशाफलं दिशन्ति, ये च निजसधर्मिणो ग्रहास्तेषामन्तर्दशास्वेव स्वकीयदशाफलं दिशन्ति । अत्रायमभिप्रायः—संबन्धश्चतुर्विधः, सहवास एकेशालोकोऽन्योन्यालोकोऽन्योन्याश्रयश्चेति । उक्तलक्षणलक्षिता ये संबन्धिनो ग्रहास्तेषामन्तर्दशा यदाऽयाति तदा संबन्धगौरवेण गौरवं, मध्येन मध्यमल्पेनाल्पं स्वदशाफलं दिशन्ति । अथ च ये निजसधर्मिणः स्वसमानधर्मित्वं सधर्मित्वं तद्भिन्नतद्गतधर्मवत्त्वमात्रापेक्षितामित्यतो ये चतुर्विधसंबन्धरहिताः शुभाशुभाधिपत्येन स्वकीया ये धर्मास्तद्धर्मवंत इत्यनेन यस्य ग्रहस्य यादृक् फलं प्रागुक्तं तादृगेव फलं पुनरन्यस्यापि ग्रहस्य यदि भवेत्तदा तौ सधर्मिणौ । द्वित्रिग्रहकृते राजयोगे यद्वारिष्टादियोगे च द्वित्रिग्रहकृते सध-

र्मिणो भवन्त्येवेत्यनेन समानफलदाने च तत्फलविरोधे न स्वदशाफलं, किंतु तत्फलसहायकर्तारो ये ग्रहास्तेषामन्तर्दशा यदा तद्ग्रहदशायामायाति तदैव सा धर्मगौरवेण गौरवं मध्येन मध्यमल्पेनाल्पं स्वदशाफलं दिशन्तीति भाव: ॥३०॥

इतरेषामिति। इतरेषां स्वसंबन्धस्वसमानधर्मव्यतिरिक्तानां दशानाथविरुद्धफलदायिनां ग्रहाणां भुक्तिषु अन्तर्दशासु-तत्तत्फलानुगुण्येन फलानि दशानाथफलानि ऊह्यानि कल्पनीयानि । ययोर्दशानाथभुक्तिपयोर्विरुद्धं फलं, किंच दशेशो धनदो भुक्तिपो धनापहस्ततोभयं फलं धनलाभो धनव्ययश्चेति । तत्रेयान्विशेष:—तत्र दशानाथभुक्तिपयोर्मध्ये यस्य बलाधिक्यं तस्य फलमधिकं यदि तुल्यं बलं तर्हि तुल्यफलमुभयोर्ज्ञेयमेव यदि तु दशानाथस्य भुक्तिपस्य वा धनदत्वं धनापहत्वं चोभयमेकस्यैव भावयोगादिना दृश्यते तत्रोभयो: फलयोर्नाश:। अथ यद्येक एव हेतुद्वयेन सत्फलद एकेन हेतुनाऽसत्फलदस्तत्र द्विहेतुकफलस्यार्धं ज्ञेयम् । अत एवोक्तं—'नान्यो ग्रह: सदृशमन्यफलं हिनस्ति' इति । अथ दशेशभुक्तिपयोरादौ कस्य फलमिति चेद्दशेशस्यादौ फलं भुक्तिपस्य तदनन्तरमिति । अत एवोक्तं प्रथमोदितस्येति ॥ ३१ ॥

अथ पुनर्दशाफलकथने विशेषमाह—

स्वेति । त्रिकोणेश:पापकृन्नो चेत्स्थानान्तराधिपत्यदोषदुष्टो न भवेच्चेत्तस्य त्रिकोणपस्य दशा यत्र समागता तत्रेत्यनुषज्यते । तेन त्रिकोणेशदशायां केन्द्रपतेर्भुक्तौ शुभं दिशेत् । कथमसंबन्धेनासति संबन्धचतुष्टये इति, सति संबन्धे तूक्तफलाद-

धिकं फलं भवतीति नाऽसंबन्धेऽपि तथैवेति भावः—सोऽपीत्यनेन केन्द्रेशोऽपि स्वदशायां त्रिकोणेशभुक्तौ तादृग्प्रीत्यैव शुभं फलं दिशेदित्यर्थः। तेन दशानाथयोरुभयोरपि दोषसाहित्येन न शुभफलमिति ॥ ३२ ॥

आरम्भस्तत्संबन्धीति द्वाभ्यां राजयोगान्तरमाह—

आरम्भ इति। राजयोगारम्भो मारकान्तर्दशासु भवेत्तदा पापभुक्तयः पापिनां मारकलक्षणलक्षितानां भुक्तयोऽन्तर्दशास्तं आरब्धराजयोगं क्रमशः पापभुक्तिकालमभिव्याप्य प्रथयन्ति। राजायमिति प्रथामात्रं कुर्वन्ति। अव्याहताज्ञास्तेजोबलवृद्धिमहानुभावं न कुर्वन्तीत्यर्थः। तेन प्रबलयोगकारकदशायां भुक्तिनाथानां पापत्वेऽपि दशानाथस्य राजयोगफलनाशकारकरूपदोषोनास्तीति ध्वनितम् ॥ ३३ ॥

तदिति। अथ चेत्तत्संबन्धिशुभानां योगकारकसंबन्धिनां शुभग्रहाणां भुक्तिषु यदि राजयोगस्यारम्भो भवेत्, राजयोगकारको यो ग्रहस्तत्संबन्धी यो ग्रहः शुभस्तस्यान्तर्दशायां यदि राजयोगस्यारम्भो भवेत्तदा शुभानामन्तर्दशाः क्रमशः क्रमेण प्रतिदिनमुत्तरोत्तरवृद्ध्या अव्याहताज्ञास्तेजोऽभिवृद्धिसुखानुभवं प्रथयन्ति। एवं ये ये योगकारकसंबन्धिनो ग्रहाः शुभानामन्तर्दशासु तादृक् राज्यसुखानुभवं प्रथयन्ति तथा पुनरसंयुजामिति संबन्धचतुष्टयरहितानां शुभानां योगकारिणां च संयोगो दशान्तर्दशायोगः समत्वेन नोत्कृष्टत्वेन नापकृष्टत्वेनेति तथा तथैव भवेत्। अत्रायं भावः—योगकारिणो ग्रहस्यासंबन्धी शुभो यो ग्रहस्तस्यान्तर्दशायां यदि राजयोगप्रारम्भो भवेत्स तु प्रारम्भसमये तादृगव्याहताज्ञातेजोवृद्धि-

महानुभावं मध्यमत्वेन प्रथयेत् । मन्त्र्यधीनो भूत्वा राज्यं करोतीत्यर्थः । अत्रात्मसंबन्धिनो ये ये चेति श्लोके नैवार्थसिद्धत्वेऽपि योगकारकभुक्तिलक्षणस्य प्रकरणातद्विशद्यार्थं पुनरुक्तं न दोषायेति ॥ ३४ ॥

शुभस्येति । प्रसक्तस्यास्य शुभस्य दशायां प्रसक्तस्येति किमस्य प्रयुक्तस्येति वा पाठः । युक्तस्य संबंधचतुष्टययुक्तस्य योगकारकस्य दशायां योगकारका ये ग्रहास्ते स्वस्वभुक्तिषु स्वकीयान्तर्दशासु कुत्रचित्कदाचिद्योगजं फलं प्रयच्छन्ति । ईदृग्योगफलं न सर्वत्र, अत एवोक्तं प्रबलस्येति वा पाठः । तत्पाठे प्रबलस्यास्य दशायां योगकारका ये ग्रहास्ते स्वभुक्तिषु कुत्रचित्कदाचिद्दीर्घायुरसंभवे योगजं फलं प्रयच्छन्तीत्यन्वयः— अन्यथा योगस्य वैयर्थ्यापत्तिः—अत एवोक्तं वराहेण—

'कर्मलग्नयुतपाकदशायां राज्यलब्धिरथवा प्रबलस्येति।'

प्रबला शक्तिर्यस्येति विग्रहः साधुः, अस्मिन्नर्थे वराहस्य संमतिः ॥ ३५ ॥

तमोग्रहाविति । तमोग्रहौ राहुकेतू शुभारूढौ केन्द्रात्रिकोणान्यतमस्थानगौ कन्यामिथुनान्यतमस्थौ केनाचिदपि ग्रहान्तरेण संबन्धरहितौ तदान्तर्दशानुसारेण भुक्तिनाथशुभाशुभानुगुण्येन राजयोगफलदौ भवेतां, अत्रोक्तम्—

'अजकर्कालिकन्यैणयुग्मस्थः केन्द्रगः फणी ।
पराशरमुनिः प्राह राजयोगकरः स्वयम्' ॥ ३६ ॥

पापा इति । भवन्तीति युग्मं, पापा यदि दशानाथाः स्युस्तदातदसंयुजां तत्संबन्धरहितानां शुभग्रहाणामन्तर्दशासु

योगकारिणां भुक्तयः पापफलदा भवन्ति । योगकारिणां पापिनां दशानाथसंबन्धिनां पापिनां भुक्तयस्तु अत्यन्तपापफलदा विशेषतोऽत्यन्ता शुभाः स्युरिति ॥ ३७ ॥

पापा यदि दशानाथा इति सर्वत्रान्वेति ।

अत एवोक्तं सत्याचार्येण--

'षट्काष्टमस्थोरिपुदृष्टमूर्तिः पापग्रहः पापगृहे यदि स्यात् ।
त्वान्तर्दशायां मरणाय जन्तोर्ज्ञेयःसयुद्धे विजितोयदान्यैः॥
कारके मारको नो यो मिश्रः स्वाभाविकः शुभः ।
मारके कारको मध्योऽत्यनिष्टं मारकद्वयम् ॥' इति ३८ ।

सत्यपीति । मारका मारकलक्षणलक्षिता ग्रहाः स्वदशायां स्वेन स्वभुक्तिनाथेन संबन्धे सत्यपि तच्छुभभुक्तिषु न हन्ति, स्वेन भुक्तिनाथेनासंबन्धे सत्यपि पापभुक्तिषु हन्ति । अत्रेयानभिप्रायः मारकदशायां संबन्धिनोऽपि शुभस्यान्तरे न मरणं वाच्यं, असंबन्धिनोऽपि पापस्यान्तरे मरणं भवतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अथ भृगुशन्योर्भुक्तिवैलक्षण्यमाह—

परस्परेति । सूर्यजभार्गवौ शनिशुक्रौ स्वदशायां स्वभुक्तौ व्यत्ययेन शुभाशुभं विशेषेण प्रदिशेताम् । शनिः स्वदशायां स्वकीयान्तरे च सति शुभाशुभं विशेषेण दद्यात् । शुक्रोऽपि स्वदशायां स्वान्तरे च शुभाशुभं दद्यादित्यनेनान्ये ग्रहाः सर्वे स्वदशायामात्मसंबन्धिनो ये ग्रहास्तेषामन्तर्दशास्वेव स्वदशाफलं प्रयच्छन्ति । स्वभुक्तिषु दशानुगुण्येन फलं न प्रयच्छन्ति । शनिशुक्रौ स्वदशायां स्वान्तर्दशायां स्वनिष्टं शुभं वाशुभं वा

फलमन्यापेक्षामपहाय स्वोचितं फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः। शनिशुक्रौ परस्परदशायां स्वभुक्तौ व्यत्ययेन विपर्ययेण शुभाशुभं प्रदिशेतां, शनिः स्वदशायां शुक्रभुक्तौ तद्दशाप्रयुक्तं फलं शुभमशुभं वा विशेषेण ददाति, शुक्रः स्वदशायां शनिभुक्तौ तद्दशाप्रयुक्तं शुभमशुभं वा विशेषेण ददातीत्यर्थः। अत्र व्यत्ययेनेत्युक्तत्वाद्दशाफलव्यत्ययेन वा शुक्रदशायां शनिदशाफलं, शनिदशायां शुक्रदशाफलम्। भुक्तावपि तादृगिति वदन्ति तदसत्—तत्र प्रमाणम्।

पराशरः—

'अन्यापेक्षामकृत्वैव फलदौ शनिभार्गवौ।
अस्तंगतेऽपि तत्सर्वमनयोःपरिकीर्तितम्॥'

अत एवोक्तम्—

'सूर्योच्छिन्नद्युतिषु च दलं प्रोज्भय शुक्रार्कपुत्राविति।'

अन्यदपि—

फलं यच्छति साहित्याद्भृगुजः सूर्यजन्मनः।
सूर्यजो भृगुसाहित्यादित्थं ज्ञात्वा फलं वदेदिति॥४०

लग्नकर्माधिनेताराविति। धर्मकर्मेति च पद्यद्वयं बृहत्पाराशरजातकात्संगृहीतं सुगमार्थं ज्ञेयमिति ४१।४२॥

कान्यकुब्जजे विषये यैतियाख्यप्रगान्वये।
श्रौतस्मार्तक्रियोपेते खोरिग्रामनिवासिना॥
योऽडुदायप्रदीपाख्यटीका सज्जनरञ्जनी।
तस्यां पूर्तिमगान्मिश्राध्यायव्याख्या सुनिर्मला॥

इत्युडुदायप्रदीपे सज्जनरञ्जनी टीका समाप्ता।

अथ

सुश्लोकशतकम् ।

संज्ञाध्यायः ।

महेशं प्रणिपत्यादौ स्फुटं पाराशरं मतम् ।
करोमि सुखबोधाय सुश्लोकशतकं मुदा ॥ १ ॥
सर्वे ग्रहाः प्रपश्यंति सप्तमं निजराशितः ।
शनिस्त्र्याशं गुरुः कोणं चतुरस्रं महीसुतः ॥ २ ॥
इमेऽपि सप्तमं सर्वे नान्यद्भावं हि खेचराः ।
ग्रहाः खलाः खला नात्र, सौम्याः सौम्याः कदाचन ॥ ३ ॥
तत्तत्स्थानानुसारेण भवन्तीह खलाः शुभाः ।
शुभाः खलास्तथा बोध्यास्तन्निर्णयमथो शृणु ॥ ४ ॥
केन्द्राधिपतयः पापा भवन्त्यत्र शुभा यतः ।
शुभाः पापास्तथा बोध्याः प्रबलाश्चोत्तरोत्तराः ॥ ५ ॥
लग्नेशाच्च चतुर्थेशस्ताभ्यां स्यात्सप्तमेश्वरः ।
बली कर्मेश्वरस्तेभ्यस्तथाङ्केशः सुतेश्वरात् ॥ ६ ॥
विक्रमेशाच्च षष्ठेशः षष्ठेशाल्लाभनायकः ।
शुभो वा यदि पापो वा भवेत्कोणाधिपः शुभः ॥ ७ ॥
त्रिषडायपतिः पापश्चाष्टमेशस्तथाविधः ।
धनव्ययेश्वरौ चापि शुभाशुभयुतौ ग्रहौ ॥ ८ ॥
शुभाशुभौ केवलौ तु स्थानानुगुणपाकदौ ।
पापः कुजः कर्मनाथो यदि नो पञ्चमाधिपः ॥ ९ ॥

कुंभलग्ने यदा जन्म कर्मनाथः कुजो भवेत् ।
तदा पापो विशेषेण न कदाचिच्छुभप्रदः ॥ १० ॥
कर्कलग्ने कर्मनाथः कुजः सत्फलदायकः ।
अष्टमेशोऽपि च शुभो यदि स स्यात्तनूपतिः ॥ ११ ॥
मेषलग्ने यथा भौमश्चाष्टमेशोऽपि शोभनः ।
तुलालग्ने शुभः शुक्रो वृषलग्ने गुरुः खलः ॥ १२ ॥
अष्टमेशो विधुर्वार्को नो पापः शुभ एव सः ।
धर्मस्याप्यष्टमस्येह पतिरेकः खलः स्मृतः ॥ १३ ॥
युग्मलग्ने शनिः पापः स एकोऽष्टमधर्मपः ।
केन्द्रकोणाधिपो यो हि स भवेत्त्रिषडायपः ॥ १४ ॥
दोषयुक् स तु विज्ञेयः पाराशरमुनेर्मतम् ।
केन्द्राधिपः शुभश्चेत्स्यात्स एव त्रिषडायपः ॥ १५ ॥
पाप एव स विज्ञेयः पापश्चेच्छोभनः स्मृतः ।
यास्मिन् भावे स्थितः खेटस्तमाश्रित्य स्वकं फलम् ॥ १६ ॥
ददातीह न संदेहः शुभो वाप्यशुभोऽपि वा ।
मेषलग्नेश्वरो भौमः सोत्थे भ्रात्रादितः सुखम् ॥ १७ ॥
गुरुर्लग्नेश्वरः सोत्थे दुःखं भ्रात्रादितो दिशेत् ।
यत्र भावे स्थितौ राहुकेतू तत्फलदायकौ ॥ १८ ॥
यद्ग्रहस्य तु संबंधी तत्फलाय तमोग्रहः ।
यद्युक्तः सप्तमो यस्मात्तत्संबंधी तमोग्रहः ॥ १९ ॥
तृतीयमष्टमं चायुर्द्वितीयं सप्तमं तनोः ॥
मारकं तद्धि विज्ञेयं तत्पूर्वं प्रबलं स्मृतम् ॥ २० ॥
केन्द्रनाथो गुरुर्दुष्टस्तथा दैत्यगुरुः स्मृतः ।
ततो न्यूनः सोमसुतः सोमश्चाल्पतरस्तथा ॥ २१ ॥

मुख्यश्चान्योन्यभे खेटौ चान्योन्यं वापि पश्यत: ।
संबन्धो मध्यमश्चान्यो द्वयोरेकतरो यदा ॥ २२ ॥
भवेदेकतरस्थाने तं चापि यदि पश्यति ।
एकराशौ यदा द्वौ चेत्तदा तेभ्योऽधम: स्मृत: ॥ २३ ॥

इति श्रीमच्छुक्लमिट्ठनलालविरचिते सुश्लोकशतके संज्ञाध्याय: प्रथम: ।
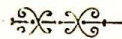
राजयोगाध्याय: ।

आयुस्त्रिषष्ठायेशानामसंबन्धी च यो ग्रह: ।
पुनस्तादृशकेन्द्रेशसंबंधी स तु राज्यद: ॥ १ ॥
चंद्रज्ञगुरुकाव्यानां मध्ये य: केन्द्रनायक: ।
स दुष्टोऽपि च केन्द्रेशसंबंधी राज्यदायक: ॥ २ ॥
आयुस्त्रिषष्ठलाभेश: स एव यदि केन्द्रप: ।
दोषयुक्तोऽप्ययं राज्यं दत्ते संबन्धितस्तत: ॥ ३ ॥
एवं त्रिकोणनाथोऽपि दोषयुक्तोऽपि राज्यद: ।
एवं त्रिकोणकेन्द्रेशौ द्वावपीह तु राज्यदौ ॥ ४ ॥
भाग्यराज्येश्वरौ भाग्ये राज्ये वान्योन्यराशिगौ ।
यातौ स्वस्वगृहे वा तौ योगोऽयं प्रबल: स्मृत: ॥ ५ ॥
पुत्रपितृपती चेत्थं प्रबलौ राज्यकारकौ ।
अथ क्वापि स्थितौ चापि चेत्संबंधचतुष्टये ॥ ६ ॥
कुरुतोऽन्यतमं योगं राज्यं तौ यच्छत: प्रभू ।
दशा चेद्राज्यनाथस्य भवेदन्तर्दशा सत: ॥ ७ ॥
प्रायशो लभते राज्यं ध्रुवं संबन्धिनोऽस्य तु ।
राज्यदात्प्रबलो यस्तु खलो मलिनलक्षण: ॥ ८ ॥

संबंधी योगनाथस्य चेत्तस्यैव दशा भवेत् ।
अन्तर्दशा यदा योगनाथस्य तु तदा नृपः ॥ ९ ॥
केन्द्रेशान्यतमः कश्चित्कोणेशान्यतरेण चेत् ।
संबंधमाचरन्खेटो राज्यं यच्छति निश्चितम् ॥ १० ॥
कोणनाथस्य संबन्धी केन्द्रगश्चदुपग्रहः ।
अथवा केन्द्रनाथस्य संबन्धी यदि कोणगः ॥ ११ ॥
सोऽपि राज्यप्रदो ज्ञेयः पाराशरमुनीरितः ।
लाभेशस्य तु संबन्धी राज्यभङ्गाय कर्मपः ॥ १२ ॥
धर्मायुषोस्तु कर्मायोरेको राज्यहरो ग्रहः ।
युग्मे लग्नेऽथ वा मेषे राज्यभङ्गाय भानुजः ॥ १३ ॥
जन्मलग्नेश्वरः खेटो दशमे दशमेश्वरः ।
लग्ने विख्यातकीर्तिः स्याद्विजर्षी च धराधिपः ॥ १४ ॥

इति राजयोगाः राज्यभङ्गाश्च ।

अथ मारकाध्यायः ।

सप्तमं मारकस्थानं तस्मात्तु प्रबलं धनम् ।
मरणं मारकेशस्य दशायां प्रवदेत्सुधीः ॥ १ ॥
संबन्धी मारकेशस्य पापः कश्चिद्ग्रहो भवेत् ।
तद्दशायामथो मृत्युं संभवे प्रवदेद् बुधः ॥ २ ॥
जन्मलग्नेश्वरः खेटो भानोररिसुहृत्सुहृत् ।
वा चेद्दीर्घायुरथवा समो मध्यायुरुच्यते ॥ ३ ॥
अल्पायुरधिशत्रुश्चेच्छत्रुर्वा रविरत्र चेत् ।
भवेल्लग्नेश्वरस्तर्हि जन्मराशीश्वरस्तदा ॥ ४ ॥

तयोः स एव नाथश्चेत्तदा यद्गृहगो रविः ।
तद्दशादिह निर्णेयमायुर्विद्भिरेव हि ॥ ५ ॥
अल्पायुषागते चेत्स्यात्तद्दशान्यतमा भवेत् ।
संभवः स तु विज्ञेयस्तदभावे त्वसंभवः ॥ ६ ॥
असंभवे जन्मलग्नाद्व्ययाधीशो हि मारकः ।
व्ययाधीशस्य संबन्धी शुभः खेटोऽपि मारकः ॥ ७ ॥
व्ययस्थाने स्थितः पापो वाष्टमेशोऽथ वा भवेत् ।
एषामन्यतमायान्तर्दशायां निधनं भवेत् ॥ ८ ॥
अथवा सर्वथा रीत्या यः खेटः कलुषो भवेत् ।
न शुभस्तद्दशायां तु मरणं भवति ध्रुवम् ॥ ९ ॥
मारकेशस्य संबन्धी यदि पापः शनैश्चरः ।
मारकः स शनिर्ज्ञेयो नान्ये मारकलक्षणाः ॥ १० ॥
केन्द्रनाथो गुरुश्चेत्स्याद्धने वा मदने स्थितः ।
मारकः प्रबलो ज्ञेयस्तथैव कविनन्दनः ॥ ११ ॥
राहुश्चेदथवा केतुर्धने कामे व्ययाष्टमे ।
मारकेशान्मदे वापि मारकेशेन वा युतः ॥ १२ ॥
मारकः स तु विज्ञेयो दशास्वन्तर्दशासु च ।
त्रिषडायेऽपि कष्टाय पापसंबन्धकृत्तथा ॥ १३ ॥
आरम्भो राजयोगस्य पापमारकभुक्तिषु ।
नाम्नैव स भवेद्राजा तेजोहीनोऽल्पसौख्यभाक् ॥ १४ ॥
संबन्धी राज्यदातुर्यः शुभस्यान्तर्दशा भवेत् ।
प्रारंभे राजयोगस्य तेजःसौख्ययशोऽर्थदा ॥ १५ ॥
असंबन्धि शुभस्येह समाचान्तर्दशा भवेत् ।
असंबन्धि खलस्यैव समाचान्तर्दशा क्वचित् ॥ १६ ॥
केन्द्रत्रिकोणगो राहुरसंबन्धी सतोऽसतः ।

शुभा चान्तर्दशा तस्य राज्यकीर्तिप्रदा नृणाम् ॥ १७ ॥
सर्वे ग्रहाः स्वकीयासु दशास्वन्तर्दशासु च ।
स्वं फलं नैव यच्छन्ति स्वसंबन्धिफलप्रदः ॥ १८ ॥
असंबन्धे तु ते सर्वे स्थानानुगुणिनः सदा ।
फलमेतन्मनुष्याणां पशूनां स्वदशाफलम् ॥ १९ ॥
दशानाथस्य संबन्धी यः कश्चित्खचरो भवेत् ।
तदीयान्तर्दशामध्ये स्वं फलं यच्छतीह सः ॥ २० ॥
यादृशः स्याद्दशानाथस्तादृशो यो हि खेचरः ।
दशेशस्य सधर्मी सः शुभो वा मलिनोऽथवा ॥ २१ ॥
स्वकीयान्तर्दशायां वा दशानाथः सधर्मिणः ।
फलं यच्छति निःशेषं निश्चितं कविसंमतम् ॥ २२ ॥
दशानाथो यदा पापः शुभोऽस्यान्तर्दशापतिः ।
व्यत्यस्तेऽपि विरोधः स्यात्तयोरन्तर्दशाफलम् ॥ २३ ॥
केन्द्रनाथस्य संबन्धी कोणेशान्तर्दशासु वै ।
शुभं दत्ते विलोमेऽपि संबन्धेतरतोऽशुभम् ॥ २४ ॥
शुभग्रहस्य संबंधी योगकर्त्ता हि यो ग्रहः ।
अस्याप्यन्तर्दशामध्ये राज्यसौख्यं भवेद् ध्रुवम् ॥ २५ ॥
अत्यन्ताशुभदः पापः पापमध्ये यदा भवेत् ।
संबन्धी तु शुभो मिश्रोऽसंबन्धी त्वशुभप्रदः ॥ २६ ॥
मारकस्य दशायां तु शुभसंबन्धिनो भवेत् ।
अन्तर्दशा तदा नैव मृत्युः पाराशरं मतम् ॥ २७ ॥
असंबन्धिखलस्यान्तर्दशेह मरणप्रदा ।
संबन्धिनः पुनः किं स्यादिति निश्चयमीरितम् ॥ २८ ॥
शुक्रमध्ये गतो मंदः शौक्रं शुक्रोऽपि मंदगः
मांदं शुभाशुभं दत्ते विशेषेण न संशयः ॥ २९ ॥

इत्थं तातादि भावं तु लग्नं तत्तत्प्रकल्प्य वै ।
सर्वं फलं वदेद्धीमान्मारकादि सुखादि च ॥ ३० ॥
कामार्थपतिसंबंधी भुक्तौ परिणयं वदेत् ।
शुक्रेन्दुलग्नतः कामनाथस्य च दशाथवा ॥ ३१ ॥
कोणनाथस्य सम्बन्धी दशास्वन्तर्दशासु च ।
पुत्रादीनां वदेज्जन्म सुधीर्मत्यनुसारतः ॥ ३२ ॥
इति मैठुनीये सुश्लोकशतके द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अन्तर्दशाऽध्यायः

भानुचन्द्रारराह्वीज्यमंदवित्केतुभार्गवाः ।
जन्मर्क्षे नवशेषे तु द्विहीने स्युर्दशाधिपाः ॥ १ ॥
रसा ६ शा १० नग ७ धृत्य १ ८ ष्टि १ ६ समा अतिधृति १ ६ स्तथा ।
अत्यष्टि १ ७ शैल ७ कृत्यब्दाः २ ० क्रमेण कथिता बुधैः ॥२॥
भभुक्तं स्वदशाभ्यस्तं भभोगाप्तं समादिकम् ।
गतं भोग्यं समाशुद्धं यद्वा भोग्यं समाहतम् ॥ ३ ॥
कृत्वा तु सावनं भुक्तं स्वदशा ताडितं पुनः ।
षष्ट्यु द्धृतं समाद्यं स्याद्गतमेव न संशयः ॥ ४ ॥
षट्त्रिंशद्दिवसं भानुर्मासयुग्मं निशाकरः ।
भौमः करयुगान्घस्रान्बुधो मासत्रयं तथा । ५ ॥
द्वादशाढ्यं दिनं जीवः षष्ठाधिकदिनं तथा ।
भृगुर्मासचतुष्कं च शनिः षड्भिर्दिनैर्विना ॥ ६ ॥
राहुर्द्वादशघस्रैस्तु केतुर्भौमस्य भोगवत् ।
प्रतिदण्डं ग्रहो भुंक्ते नक्षत्रं स्वं न संशयः ॥ ७ ॥
षड्दिनं वा ध्रुवं प्रोक्तं प्रतिदण्डं विचक्षणैः ।

स्वसमा निहतं यातं स्वं स्वं भुक्तं न संशयः ॥ ८ ॥
दशा दशाहता कार्या परमायुर्विभाजिता ।
अन्तर्दशादिकं प्रोक्तं विदुषा सर्वतः सदा ॥ ९ ॥
दशा दशाहता यद्वा पुना रामाहता च या ।
द्युगणोऽन्तर्दशायास्तु विनायासेन जायते ॥ १० ॥
दशा दशाहता यद्वा चोद्ध्र्वं मासगणो भवेत् ।
अधोऽङ्कं द्युगणं त्रिघ्नं भवेदन्तर्दशाफलम् ॥ ११ ॥
समाध्रुवा रामहता यद्ध्रुवा तत्समाहता ।
तन्मध्येऽन्तर्दशा तस्य विनायासेन जायते ॥ १२ ॥
कृत्वा चान्तर्दशापिण्डं परमायुर्विभाजितम् ।
ध्रुवं समाहतं यस्य तस्य स्याद्विदशा फलम् ॥ १३ ॥
कवेरन्तर्दशा खेटवर्षषष्ठांशमुच्यते ।
दशानाथदिनैरूना शने राहोर्विदो गुरोः ॥ १४ ॥
इन्दोरर्धितशौक्री स्याद्राहुत्र्यंशो रवेर्भवेत् ।
दशानाथदिनैर्युक्तमिदं केतोः कुजस्य च ॥ १५ ॥
षष्ठ्या शुद्धं भभोगं तु भयातं गुणयेत्ततः ।
पलानि तैर्युतोनं तत्स्पष्टमूनेऽधिकेऽखिले ॥ १६ ॥
पुनस्तस्यैव कृत्वा तु पलैः स्वर्णं विलोमतः ।
इदं तु सावनं ज्ञेयं विनायासेन जायते ॥ १७ ॥
खाङ्गनिघ्नं भयातं च भभोगोद्धृतमेव तत् ।
सावनं तेन भुक्ताद्यं दशायाः परिकल्पयेत् ॥ १८ ॥

इति श्रीमैट्ठनीये सुश्लोकशतके तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

आयुर्दायाध्यायः ।

आदन्तवर्षमल्पायुरावेदाङ्कं तु मध्यमम् ।
ऊर्ध्वं ततस्तु दीर्घायुरिति केऽपि जगुर्बुधाः ॥ १ ॥

चत्वारिंशत्समाऽशीतिपूर्णाब्दैरायुषो भवेत् ।
अल्पं मध्यं तथा दीर्घं पाराशर्यं जगुर्बुधाः ॥ २ ॥
वर्गाष्टकभवं चायुर्होरापाराशरीयकम् ।
तत्रारिष्टं तथा चेष्टं विलोक्य प्रबलं वदेत् ॥ ३ ॥
रणे रोगे तथोत्पाते यदारिष्टदशा भवेत् ।
तदा मृत्युर्न संदेहोऽरिष्टायां तत्र येऽपि च ॥ ४ ॥
जन्मकाले ग्रहो यादृक् दशावेशेऽपि तादृशः ।
यथोक्तं तत्फलं ज्ञेयं मिश्रैर्मिश्रफलं वदेत् ॥ ५ ॥
पञ्चतिथ्यः कुरामाश्च खगुणाश्च दिनादयः ।
समाहता समा युक्तास्तैस्ततः स्याद्दशाभवः ॥ ६ ॥
तत्काले ग्रहभावादि साधयेच्चाष्टवर्गकम् ।
द्विरुत्तमे वरं बोध्यं द्विःपापेऽरिष्टकृद्भवेत् ॥ ७ ॥
देशकालानुसारेण कुलजात्यनुसारतः ।
निमित्तादिवशाच्चापि ह्रासवृद्धी फले वदेत् ॥ ८ ॥
कलौ पापफलं पूर्णं शुभार्धं पादतो वदेत् ।
पापीयसामपि तथा चेतरेषां विलोमतः ॥ ९ ॥
ग्रंथोऽयं ख्यातिमायातु यशस्वी चास्य पाठकः ।
श्रियं हि जगतामीशो दद्याद्भार्गसुतस्तयोः ॥ १० ॥
भारद्वाजकुले वामदेवो देव इवापरः
होलस्तत्कुलजो जातस्तत्सुतौ द्वौ बभूवतुः ॥ ११ ॥
उदयी भैरवश्चापि तदग्रजस्य सुतास्त्रयः ।
दऊश्च तिलकश्चापि गोवर्धन इति स्मृताः ॥ १२ ॥
तिलकस्य कुले शुक्लः शिवगुप्तामेति विश्रुतः ।
तत्सुतोमिठ्ठनो येन कृतं पाराशरं स्फुटम् ॥ १३ ॥

इति श्रीमैठ्ठनीये सुश्लोकशतके चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

उद्योत और सुश्लोकशतकानुसार

भावानुवाद ।

१—संज्ञाध्याय ।

(१) जो वाग्-ब्रह्म निर्गुणरूप से उपनिषदों में प्रतिपादित है और जो सगुण-स्वरूप में ब्रह्मा की अर्धाङ्गिनी होकर रक्त ओष्ठ एवं वीणा को लिए सरस्वती-रूप में आविर्भूत है—उस अलौकिक तेज की हम उपासना करते हैं ।

(२) महामुनि पराशर द्वारा आविष्कृत होराशास्त्र के आधार पर हम अपनी बुद्धि के अनुसार इस 'उडुदायप्रदीप' ग्रन्थ को दैवज्ञों के संतोषार्थ बनाते हैं ।

(३) इस ग्रन्थ में ग्रहों के शुभाशुभ-फलों का विचार नक्षत्र दशा के अनुसार किया गया है और पराशर के मतानुसार विंशोत्तरी दशा का क्रम लिया है । अष्टोत्तरी आदि विभिन्न दशाओं का ग्रहण, फल में व्यभिचार होने से, नहीं किया है ।

(४) इस होराशास्त्र में लग्न आदि बारह भावों के जो अनेक नाम हैं उनको दूसरे ग्रन्थों से जानना चाहिए । यहाँ पराशर के मत से जो विशेष संज्ञाएँ मानी गई हैं, वे ही कही जायँगी ।

अर्थात् तनु, धन, सहज आदि नाम, मेष, वृष आदि राशि और उनकी चर, स्थिर, ओज, युग्म आदि संज्ञाएँ, कालपुरुष के अनुसार राशियों का अङ्गविभाग, शीर्षोदय,

पृष्ठोदय आदि संज्ञा, भावों का कारकत्व विचार, ग्रहों की दीप्त, स्वस्थ, प्रमुदित आदि अवस्था मित्र-शत्रु एवं गुण-धर्मों को बृहज्जातक, सारावली आदि प्रामाणिक मूलग्रन्थों से सूक्ष्म दृष्टि से जान कर, दशाफलों का निर्णय करना चाहिए।

संक्षेप में ज्ञातव्य ग्रहों के गुण-धर्म आदि इस प्रकार हैं—

(१) रवि, चन्द्र, गुरु—सत्वगुण-प्रधान।

बुध, शुक्र—रजोगुण-वर्धक।

मङ्गल, शनि—तमोगुण-संचालक।

(२) रवि—स्थिर-स्वभाव, चन्द्र—चंचल, मङ्गल—उग्र, बुध—मिश्र, गुरु—क्षिप्र, शुक्र—मृदु और शनि—दारुण।

(३) रवि, मङ्गल—अग्नितत्व।

चन्द्र, शुक्र—जलतत्त्व।

बुध—भूमितत्त्व।

गुरु—आकाशतत्त्व।

शनि—वायुतत्त्व।

ग्रह—अवयव।

(४) रवि—आत्मा, चन्द्र—मन, मङ्गल—सत्त्व, बुध—वाणी, गुरु—जीव, शुक्र—काम और शनि—दुःख।

शारीरिक तत्त्व।

(५) रवि—अस्थि, चन्द्र—रक्त, मङ्गल—मज्जा, बुध—त्वचा, गुरु—वसा, शुक्र—वीर्य और शनि—स्नायु। इत्यादि।

(५) सूर्य आदि सातों ग्रह और राहु-केतु जिस स्थान में हों उससे सातवें स्थान एवं उसमें स्थित ग्रह को पूर्णदृष्टि

से देखते हैं। किन्तु केवल तृतीय, दशम स्थान को शनि, पंचम, नवम को गुरु और चतुर्थ, अष्टम को मङ्गल पूर्ण-दृष्टि से देखता है।

यहाँ ग्रहों की उक्त स्थानों में पूर्णदृष्टि ही मानी है। पाद, द्विपाद आदि दृष्टियों का ग्रहण नहीं किया है। पराशर के मतानुसार यह विशेष-संज्ञा समझनी चाहिए।

(६) जन्मलग्न से त्रिकोण अर्थात् पंचम, नवम स्थानों के स्वामी सूर्य आदि सातों ग्रह शुभफल देते हैं। अर्थात् त्रिकोणाधीश होने से सभी शुभग्रह माने जाते हैं। यहाँ राश्यधीशत्व न होने से राहु-केतु का ग्रहण नहीं है। इसी प्रकार, जन्मलग्न से तीसरे, छठे और ग्यारहवें स्थानों के स्वामी होने से सभी ग्रह अशुभ फल देते हैं। अर्थात त्रिषडायेश होने से पापग्रह माने जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि त्रिकोण स्वामी शुभ और त्रिषडाय-स्वामी सदा अशुभ फल देते हैं, वे शुभग्रह हों या अशुभ। बृहज्जातकोक्त 'क्षीणेन्द्वर्कमहीसुतार्कतनयाः पापाः।' यह यहाँ पर सामान्यशास्त्र है। इसीलिए सुश्लोकशतक में लिखा है—'ग्रहाः खलाः, खला नात्र' श्लो. ३।

(७) जो शुभग्रह केन्द्र अर्थात् १, ४, ७ और १० स्थान के स्वामी हों तो वे शुभ फल नहीं देते। यदि पापग्रह अर्थात् सूर्य, भौम, शनि, क्षीण-चन्द्र केन्द्र के स्वामी हों तो वे अशुभ फल नहीं देते। अर्थात् शुभग्रह केन्द्राधिपति होने से शुभफल और अशुभग्रह भी केन्द्राधिपति होने के कारण अशुभ फल नहीं देते। अर्थात् पराशर के मत में, केवल संज्ञामात्र से कोई ग्रह शुभ या पाप नहीं हैं, किन्तु अपनी

स्थिति के अनुसार शुभग्रह अशुभ एवं अशुभ ग्रह शुभ-फलकारक माने गये हैं। इसीलिए सुश्लोक शतक में लिखा है—'केन्द्राधिपतय: पापा भवन्त्यत्र शुभा यत:।'

इन त्रिकोण, त्रिक और केन्द्रपतियों में प्रथम-स्थान स्वामी से आगे का स्थान स्वामी क्रम से बली माना गया है। जैसे पाँचवें से नवाँ, तीसरे से छठा और लग्न से चौथा आदि। जो ग्रह प्रबल हो, उसी का फल कहना चाहिए।

इस निर्णय से बलानुसार ही ग्रहों का फल विचारना चाहिए। रवि, चन्द्र को छोड़कर शेष भौम आदि पाँचों ग्रह दो-दो राशियों के स्वामी प्रसिद्ध हैं। इनमें त्रिकोण, त्रिक और केन्द्र इन तीनों में किसी दो स्थानों का एक ही स्वामी हो सकता है। जैसे कर्कलग्न में गुरु मकर में बुध छठे और नवें स्थान का स्वामी होता है। ऐसे ही कन्या लग्न में शनि पाँचवें और छठे का स्वामी होता है। यदि दो स्थानों में शुभ सिद्ध हो तो अधिक शुभ फलकारक और अशुभ हो तो अधिक अनिष्ट-कारक जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि त्रिक स्वामी के संबन्ध से कोई भी ग्रह अपने यौगिक शुभफल देने में समर्थ नहीं होता। कोई ग्रह किसी स्थान में शुभ एवं दूसरे में अशुभ होने पर मिश्रफल देता है। दशमेश होने से शुभग्रह अधिक अनिष्ट-कारक और पापग्रह सबसे अधिक इष्टफलदायक होता है।

(८) अब दूसरे और बारहवें स्थान का विचार करते हैं—लग्न से दूसरे और बारहवें स्थान का स्वामी जिस शुभ किंवा अशुभ भावेश के साथ हो या जिस भाव में हो

उसके गुण-धर्म के अनुसार फलकारक होता है। जिस प्रकार ग्रह दो स्थानों के स्वामी होने से भिन्न-भिन्न फल देते हैं, वैसा नहीं देते। यदि अपने ही स्थान में बैठ हों तो स्वतन्त्र रूप से कोई शुभाशुभ फलदायक नहीं होते हैं।

अर्थात् अपने किंवा सम्बन्धी ग्रह के नैसर्गिक शुभाशुभ के कारण शुभ या अशुभ नहीं हैं। दोनों परतन्त्र हैं। इसलिए तात्कालिक शुभ या अशुभ ग्रह के सम्बन्ध से शुभाशुभ फल देते हैं। जैसा कि—बृहस्पति नैसर्गिक शुभ ग्रह है, किन्तु तुलालग्नवाले को तृतीय और छठे स्थान का स्वामी हो जाने से अशुभ हुआ और केन्द्राधीश होने से भी अशुभ ही माना जाता है। इस प्रकार तात्कालिक सम्बन्ध विचार आवश्यक होता है।

(९) अष्टमेश विचार—भाग्य से व्यय स्थान का स्वामी होने से अष्टमेश शुभफलकारक नहीं होता। और यदि वह लग्नेश भी हो तो शुभफल देता है।

नवम स्थान—भाग्य, धर्मवाचक है एवं अष्टम—निधन, आयु, रन्ध्र कहा जाता है। भाग्य को लग्न मानने से अष्टम उसका व्यय स्थान हुआ। अर्थात् प्राणी के भाग्य का व्यय अर्थात् विनाशकारक। इसलिए कभी शुभकारक नहीं। यदि लग्नेश और अष्टमेश एक ही ग्रह हो तो शुभ है। इस प्रकार मेष और तुला लग्न में मङ्गल और शुक्र स्वयं लग्नेशअष्टमेश होता है, इस कारण दोनों शुभप्रद हैं, अष्टमेशत्व का दोष नहीं है। ऐसे ही वृष-वृश्चिक लग्न में षष्ठेशत्व का दोष नहीं मानना चाहिए।

(१०) यदि गुरु और शुक्र केन्द्रस्वामी हों तो अधिक

दोषी अर्थात् पापी—अशुभ फलकारक होते हैं। यदि दोनों मारक स्थान २।७ में बैठे हों तो मारक होते हैं। और अष्टमेश केन्द्राधीश होकर यदि २।७ स्थान में बैठे हों तो प्रबल मारक होते हैं।

यहाँ क्रम निर्देश से गुरु की अपेक्षा शुक्र अधिक प्रबल मारक जानना चाहिए।

(११) शुक्र के बाद बुध और फिर चन्द्र भी गुरु-शुक्र के समान अष्टमेश होने पर दोषी होते हैं।

अर्थात् केन्द्राधीश होने से मारक स्थान में बुध, शुक्र की अपेक्षा कम एवं चन्द्र बुध की अपेक्षा कम दोषी समझना चाहिए। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्र अष्टमेश होने पर दोषी नहीं होते किन्तु शुभ माने जाते हैं। यही सुश्लोक-शतक में भी लिखा है (श्लो० १३)

(१२) पहले पापग्रहों का केन्द्राधीश होना शुभ फल-दायक माना गया है। उनमें भौम के लिए विशेष यह है कि यदि त्रिकोणस्वामी होकर दशमेश हो तो अधिक फल-दायक होता है, केवल दशमेश होने से पूर्ण शुभकारक नहीं होता।

अर्थात्—जैसे कर्कलग्न में भौम बैठा हो तो पञ्चमेश और दशमेश होने से पूरा योगकारक होता है। परन्तु कुंभलग्न में दशमेश होकर भी तृतीयेश होने से अशुभ ही होता है।

विशेष संस्कृत-टीका में लिखा है।

(१३) जिस भाव के स्वामी के साथ राहु और केतु

बैठे हों या जिस भाव में स्वयं स्थित हों, उस भाव के फल को मुख्यरूप से देते हैं।

इसके सिवाय जिस ग्रह से सातवें स्थान में बैठे हों, दृष्टि-सम्बन्ध से उस स्थान (भाव) का शुभाशुभ फल भी देने में सहायक होते हैं।

संज्ञाध्याय समाप्त।

२—राजयोगाध्याय ।

(१) केन्द्र और त्रिकोण के स्वामियों का परस्पर सम्बन्ध हो तो योगकारक होते हैं। और त्रिषडायेश के साथ सम्बन्ध न होने पर, विशेष शुभ फलदायक होते हैं।

ग्रहों का आपस में सम्बन्ध चार प्रकार का होता है—

(१) एक, दूसरे की राशि में हों।

(२) आपस में दृष्टि हो।

(३) एक दूसरे को देखता हो, किन्तु दूसरा पहले को न देखे।

(४) किसी राशि में एकत्र हों।

इन सम्बन्धों में प्रथम सम्बन्ध प्रबल माना गया है। शेष उत्तरोत्तर दुर्बल हैं। तात्पर्य यह है कि—इन चारों सम्बन्धों में, यदि केन्द्र और त्रिकोणपति आपस में किसी से कोई सम्बन्ध रखता हो तो बलाबल के अनुसार भाग्य-कारक योग होता है। परन्तु त्रिक के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध राजयोग को नष्ट करता है।

यह 'राजयोग' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त है। इसका अर्थ प्राणी के जीवन में ऐश्वर्य-मान-यश सुख आदि का विशेष लाभ जानना चाहिए। इसके अस्सी प्रकार के या उससे भी अधिक भेद माने गये हैं। सिंहासनासीन करानेवाले योग तो परिमित ही हैं।

(२) केन्द्र और त्रिकोण के स्वामी, दोनों या इन में से एक, त्रिक के स्वामी हों तो दोषी भी होकर सम्बन्ध से बली होने पर, योगकारक होते हैं।

जैसा कि—मेष लग्न में चौथा केन्द्रपति शनि, ग्यारहवें स्थान का स्वामी होने से दोषयुक्त-केन्द्रपति हुआ। और मकर लग्न में तीसरा त्रिकोणपति बुध, षष्ठेश होने से दोष-युक्त-कोणपति हुआ। किन्तु योगकारक केन्द्र और कोण-पतियों में, यदि एक किंवा दोनों, कोई सम्बन्ध रखते हों तो योगकारक होते हैं, भङ्गकारक नहीं। संस्कृत टीका में लिखा है— ५।६ धन स्थान और ४।१० सुख स्थान हैं। धन और सुख से ही प्राणी भाग्यवान् माना जाता है। यहाँ विचार करना चाहिए कि—चार केन्द्र स्थानों में केवल ४।१० स्थान लिया है। कारण यह है कि ७ के स्वामी की मारकों में गणना है, इसलिए उक्त दोनों प्रकार के ग्रहों के सम्बन्ध से योग प्रबल नहीं होता। केन्द्र और कोणपति स्वयं मारकदोषी होने पर भी, मारक दशा में मृत्युकारक हो सकते हैं, परन्तु अन्य-समय में योगभङ्गकारक नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि—योगकारक केन्द्र और कोणपति के साथ किसी मारक के कोई भी सम्बन्ध से, भाग्ययोग नष्ट हो जाता है।

(३) धर्म अर्थात् नवम और कर्म अर्थात् दशम का स्वामी यदि उलटे बैठे हों अर्थात् नवमेश दशम में और दशमेश नवें में हों तो यह पहला राजयोग है। यदि धर्मेश और कर्मेश एकत्र धर्म में या कर्म में बैठे हों तो यह दूसरा राजयोग है। धर्मेश धर्म में और कर्मेश कर्म में बैठा हो तो यह तीसरा राजयोग होता है।

इन तीनों राजयोगों के दूसरे भेद भी हो सकते हैं। क्योंकि रवि और चन्द्र को छोड़कर, भौमादि पञ्चग्रह दो-

दो क्षेत्रों के स्वामी हैं। इससे उक्त योगकारक दो ग्रह अर्थात् नवमेश और दशमेश अपने इन दोनों स्थानों के सिवाय दूसरे क्षेत्रों के भी सम्बन्धी हो सकते हैं। देखो, सुश्लोकशतक, राजयोग (श्लो० ५-६)।

(४) दोनों त्रिकोण स्वामियों में, यदि किसी का सम्बन्ध बली केन्द्रस्वामी के साथ हो तो यह सम्बन्ध राजयोगकारक होता है।

पञ्चम एवं नवम स्थान को ही 'कोण' कहते हैं। केन्द्राधीशों में सबसे बली दशमेश ही माना गया है और यहाँ इसी का ग्रहण है। इसलिए दशमेश ५।९ में किसी के साथ कोई सम्बन्ध रखता हो तो भाग्ययोगकारक होता है। इसके पहले श्लोक में दशमेश और नवमेश का सम्बन्ध कहा गया है। इस श्लोक में पुत्रस्थान और दशमेश का भी उसी प्रकार योगकारक सम्बन्ध माना है। परन्तु नवमेश से पञ्चमेश को दुर्बल कहा है, इस कारण यह योग पहले योग से हीनबल समझना चाहिए।

यहाँ यह भी जानना चाहिए—यदि एक ही ग्रह केन्द्र एवं कोण स्वामी हो तो वह स्वयं योगकारक होता है। जैसा—कर्क, सिंह लग्न में मङ्गल, मकर, कुम्भ में शुक्र और वृष, तुला में शनि स्वयं केन्द्र और कोण स्वामी होने से योगकारक हैं। यदि ये स्वक्षेत्र, उच्च आदि बलों से भी युक्त हों तो अपनी-अपनी अन्तर्दशा में प्राणियों का विशेष भाग्योदय करेंगे।

(५) राज्ययोगकारक केन्द्र और कोणपति इन दोनों की दशा के मध्य में, केन्द्र किंवा कोणाधीश से—सम्बन्ध

न रखनेवाले—किसी शुभग्रह की अन्तर्दशा में भी—भाग्योदय योग होता है।

उक्त योग को प्रकारान्तर से कहते हैं—जो दो ग्रह योग-कारक हों तो उनमें एक ग्रह, दूसरे ग्रह के दशा काल में—अपनी अन्तर्दशा में—दशापति का देय भाग्योदय फल देता है। परन्तु यदि उसकी अन्तर्दशा का समय शीघ्र न आया तो उन दोनों से सम्बन्ध न रखनेवाले किसी शुभग्रह की अन्तर्दशा में—वह फल प्राप्त होता है। और यदि कोई शुभग्रह, सम्बन्धी होकर अन्तर्दशा में आ जाय तो अवश्य ही फलदायक होगा।

(६) योगकारक ग्रह के सम्बन्धी नैसर्गिक पापग्रह भी अपने दशाकाल में, उक्त योगकारक ग्रहों की अन्तर्दशा में योगफल देते हैं।

अर्थात्—केन्द्र, कोणपति के सम्बन्धी पापग्रहों की महादशा में, जब योगकारकों की अन्तर्दशा आती है, तब भाग्य योग फल प्राप्त होता है। पहले नैसर्गिक शुभग्रहों का और इस श्लोक में नैसर्गिक पापग्रहों का योगज फल देने की व्यवस्था कही गई है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि—योगकारक ग्रह के साथ पापग्रहों का सम्बन्ध होना आवश्यक है, शुभग्रहों का नहीं। और सम्बन्ध रहित शुभग्रह, योगकारक ग्रह की महादशा में—अपने अन्तर में एवं सम्बन्ध युक्त पापग्रह, अपनी महादशा में—सम्बन्धी ग्रहों के अन्तर में, योगफल देते हैं।

(७) एक ही केन्द्रेश और त्रिकोणेश के परस्पर सम्बन्ध से राजयोग होता है। यदि उसी केन्द्रेश के साथ दूसरे त्रिको-

ग्रेश का भी सम्बन्ध हो तो सर्वश्रेष्ठ राजयोग होता है।

अर्थात्—दोनों कोणपति पञ्चमेश और नवमेश किसी एक केन्द्रपति के साथ सम्बन्ध रखते हों तो अधिक सुख-सौभाग्य कारक फल देते हैं।

(८) यदि राहु और केतु केन्द्र में हों और त्रिकोणेश से सम्बन्ध रखते हों अथवा त्रिकोण में बैठकर केन्द्रेश से सम्बन्ध करते हों तो राजयोग कारक होते हैं।

पहले कहा गया है कि राहु-केतु का स्थान और परस्पर दृष्टि के सिवाय दूसरा कोई सम्बन्ध ग्रहों के साथ नहीं है। ये दोनों केन्द्रस्थ होकर त्रिकोणपति के साथ अथवा त्रिकोणस्थ होकर केन्द्रपति के साथ सम्बन्ध करने से राजयोग के सहायक होते हैं। परंतु दोनों केन्द्रस्थ होकर केन्द्रपति किंवा कोणस्थ होकर कोणपति के साथ सम्बन्ध रखते हों तो भाग्य योग नहीं होता। इनकी कोई राशि न होने से जहां बैठे हों वही राशि क्षेत्र मानकर योग विचार करना चाहिए। यहां जितने राजयोग कहे हैं इन से अधिक संस्कृत टीका में संगृहीत हैं।

(९) यदि नवमेश, अष्टमेश भी हो और दशमेश लाभेश भी हो अथवा नवमेश अष्टमेश से, दशमेश लाभेश से सम्बन्ध रखता हो तो राजभङ्ग योग होता है।

पहले कहा गया है कि ३।६।८।११ इन स्थानों के स्वामी योग विनाशक होते हैं। किन्तु केन्द्र-कोणपति स्वयं उक्त स्थानों के स्वामी होने से दोषी होकर भी योगभङ्ग कारक नहीं होते। यहां इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि अष्टम

और लाभ के सम्बन्ध से योग बिलकुल नष्ट हो जाता है। दूसरे पाप सम्बन्ध से योग प्रबल नहीं रह जाता, साधारण फलदायक होता है।

राजयोगाध्याय समाप्त।

३—मारकाध्याय।

(१) जन्मलग्न से अष्टम स्थान और अष्टम स्थान से अष्टम अर्थात् लग्न से तृतीय स्थान को आयु:स्थान कहते हैं। और इन दोनों से व्ययस्थान (बारहवाँ) अर्थात् लग्न से सप्तम और द्वितीय स्थान मारक स्थान कहलाते हैं।

(२) इन दोनों मारक स्थानों में पहले से दूसरा अर्थात् सप्तम स्थान से द्वितीय स्थान प्रबल होता है।

(३) यदि मृत्यु की संभावना हो—तो द्वितीयेश अथवा सप्तमेश की दशा–अन्तर्दशा में प्राणी की मृत्यु होती है। यदि इन दोनों की दशा प्राप्त न हुई हो तो मारक-स्थान में बैठे किंवा मारकेश के साथ सम्बन्ध रखनेवाले पापग्रह अर्थात् त्रिषडायपति की अन्तर्दशा मारक होती है। देखो सुश्लोकशतक श्लो० १—२।

यहां पर संस्कृत टीका में सर्वार्थचिन्तामणि और जैमिनिसूत्र के मत से अल्प, मध्य और दीर्घायु का प्रथम विचार-कर फिर मारकेश के निर्णय का प्रसङ्ग किया है। अर्थात स्थूल मान से प्राणी की कितनी आयु निकलती है और उसका कितना भाग बीत चुका है एवं शेष कितना है और उसी के साथ जितने प्रकार के मारक कहे गये हैं, उनमें कितने ग्रहों की दशा-अन्तर्दशा बीत चुकी है और आगे शेष आयु में किसकी आनेवाली है। यही मूलश्लोकों में 'असंभवे' 'अलाभे' इन शब्दों से सूचित किया गया है। वास्तव में मृत्युकाल का निर्णय बहुत जटिल है। इस विषय

में पराशर का मत भी स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। इसका विचार 'परिशिष्ट' भाग में संस्कृतटीका के अनुसार संक्षेप में किया गया है।

(४) पहले कहे हुए मारकों की अन्तर्दशा न प्राप्त हो तो व्ययेश की दशा में, अथवा उसके सम्बन्धी किसी पाप-ग्रह (त्रिषडायपति) की दशा में मृत्यु जाननी चाहिए।

अर्थात् मारकग्रहों के बाद—व्ययेश मारक होता है, उसके बाद व्ययेश का सम्बन्धी और व्यय में बैठा हुआ पापग्रह मारक होता है।

(५) इन समयों के निकल जाने पर, व्ययेश सम्बन्धी किसी शुभग्रह की दशा में निधन विचारना चाहिए। यदि पापग्रह सम्बन्धी हो तो अवश्य ही मारक होगा। व्ययेश सम्बन्धी कोई दशा-अन्तर्दशा न आने पर, अष्टमेश की दशा में मृत्यु जाननी चाहिए।

(६) यदि पूर्वोक्त सब प्रकार के मारकों का समय व्यतीत हो जाय तो केवल अर्थात् मारकों से किसी प्रकार सम्बन्ध न रखनेवाले पापग्रहों की अन्तर्दशा में, मरण होता है। देखो सुश्लोकशतक और संस्कृतटीका।

आशय यह है कि—रवि और चन्द्र को छोड़ कर मारक स्थान का स्वामी ग्रह मारक होता है। गुरु और शुक्र केन्द्रपति होकर २।७ में बैठे हों तो विशेष मारक होते हैं। चन्द्रनवांशपति, अस्तगत, नीचस्थ, शत्रु षड्वर्ग में स्थित—सब ग्रह जितना अधिक दोषभागी होंगे उतना ही अधिक अनिष्टकारक होंगे।

(७) त्रिक का स्वामी होने से महापापी—शनि

किसी मारक का सम्बन्धी होने से, दूसरे मारक ग्रहों को अतिक्रमण करके स्वयं अवश्य मारक होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

शनि नैसर्गिक पापग्रह है। वह यदि तात्कालिक अशुभ सम्बन्धी हो तो, मारकेश की दशा न आने पर भी, प्राणी को प्राणान्त कष्टदायक होता है। अशुभ एवं मारक ग्रहों में शनि सबसे बलवान् है।

मारकाध्याय समाप्त।

४—अन्तर्दशाध्याय ।

(१) सूर्य आदि सब ग्रह अपनी दशा और अन्तर्दशा में—एवं अपने भावों के अनुसार—प्राणियों को शुभाशुभ फल नहीं देते हैं । किन्तु जो ग्रह अपना सम्बन्धी है या समान धर्मी है, उसी की अन्तर्दशा में अपनी दशा का फल देते है ।

पहले कहा गया है कि ग्रह नक्षत्रदशा के क्रम से अपने अपने फलों को देते हैं। यहां उस फलदान का समय बतलाते है—ग्रह जिस भाव में स्थित हों, जिस भाव पर दृष्टि रखते हों और जिस भाव के स्वामी हों, उन उन भावों के फलों को देते हैं अर्थात् अपने दशाकाल में उन सम्बन्ध युक्त ग्रहों की अन्तर्दशा में फलदायक होते हैं ।

(२) अपने अपने सम्बन्धी या समधर्मी ग्रहों की अन्तर्दशा में, प्रत्येक ग्रह, निज शुभाशुभ फल को देते हैं ।

पूर्व श्लोक के अनुसार जब कि अपनी दशा किंवा अन्तर्दशा में ग्रह अपना देय फल नहीं देते तो कब देते है—इसका उत्तर इस श्लोक में दिया है—दशापति ग्रह के सम्बन्धी और समगुण-धर्मी जो अन्तर्दशापति हैं, उनके द्वारा ही दशापति का देय शुभाशुभ फल प्राणी को प्राप्त होता है । अर्थात् शुभदशापति शुभग्रहों की और अशुभ दशापति अशुभ ग्रहों की अन्तर्दशा में—तदनुसार फलदायक होते हैं । परन्तु यदि दशापति के साथ अन्तर्दशापति का कोई भी सम्बन्ध न हो तो भी समधर्मी ग्रह निज देय फल को देते हैं ।

(३) दशापति के विपरीत फलकारक दूसरे ग्रहों की अन्तर्दशा में, उन्हीं के गुण धर्मानुसार दशापति फल देता है।

अर्थात् दशापति शुभ-अशुभ किसी प्रकार का फल देने में असमर्थ होता है, केवल विरुद्ध धर्मी का ही देय फल मिलता है।

(४) यदि केन्द्रपति सम्बन्ध-युक्त हो तो अपनी दशा में, कोणपति की अन्तर्दशा काल में शुभफल कारक होता है। इसी प्रकार त्रिकोणेश भी अपनी दशा में और केन्द्र-पति की अन्तर्दशा काल में, शुभफल दायक होता है। यदि केन्द्र-कोणपति का सम्बन्ध न हो तो अशुभ फल ही जानना चाहिए।

इस श्लोक में केन्द्र और कोणपति की दशा-अन्तर्दशा में शुभाशुभ फल की योजना है। क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध ही राजयोग-कारक होता है। इसलिए योगकारक दोनों शुभ किंवा पापी होकर अपनी अन्तर्दशा में शुभ-फल ही देते हैं। अर्थात् केन्द्र-कोणपतियों का सम्बन्ध ही शुभप्रद और असम्बन्ध ही अनिष्टकारक है। यही सुश्लोक-शतक का भी मत है।

(५) यदि किसी मारक ग्रह की अन्तर्दशा में राज-योग का आरम्भ हो तो उस दशाकाल में केवल राजपद की प्रसिद्धि हो जाती है—राजोचित ऐश्वर्य किंवा सुख भोग आदि की प्राप्ति नहीं होती।

यहां पर मारक शब्द से द्वितीयेश और सप्तमेश के सिवाय, दूसरे मारकलक्षणवाले पापग्रहों को भी समझना चाहिए।

(६) राज्यप्रद दशापति के साथ सम्बन्धी शुभग्रहों की अन्तर्दशा में राजशक्ति की प्रतिदिन वृद्धि होती है। और सम्बन्ध रहित शुभग्रहों की अन्तर्दशा में, साधारण रीति से, राज्य सुखादि की प्राप्ति होती है।

यहां अन्तर्दशापति दो प्रकार का माना गया है। एक सम्बन्ध सहित दूसरा सम्बन्ध रहित। आत्म सम्बन्धी शुभग्रहों की भुक्ति में पूरा योग फल एवं असम्बन्धी शुभग्रहों की भुक्ति में अधूरा फल होता है। इस प्रकार, योगकारक दशापति—आत्मसम्बन्धी शुभग्रहों की अन्तर्दशा में उत्तम, सम्बन्ध रहित होने पर मध्यम और पापग्रहों की भुक्तिकाल में अधम फल देते हैं। अन्तर्दशापति स्वयं शुभ और योगकारक होने पर, सबसे अच्छा योगफल प्राप्त होता है।

(७) राजयोग-कारक ग्रह, आत्मसम्बन्धी किसी दूसरे शुभग्रह की दशा में, और अपनी-अपनी अन्तर्दशा में, योगफल देते हैं।

तात्पर्य यह है:—आत्मसम्बन्धी शुभग्रह की दशा में, केवल योगकारक ग्रह अपनी अन्तर्दशा में अपना योगज फल देते हैं।

(८) राहु और केतु शुभस्थान (केन्द्र, त्रिकोण) में बैठकर, अपने सम्बन्ध से रहित—दूसरे ग्रह की अन्तर्दशा के अनुसार—राजयोग फल देने में समर्थ होते हैं।

अर्थात्—सम्बन्ध-रहित—योगकारक—अन्तर्दशा-पति ग्रह के गुण-धर्म के अनुसार उत्तम या अधम फल देने में सहायक होते हैं।

(९-१०) दशापति पापग्रह होने पर, उसकी दशा में उसके सम्बन्ध रहित शुभ ग्रहों की अन्तर्दशा पापफल देती है। सम्बन्ध सहित शुभग्रहों की अन्तर्दशा मिश्रफल देती है और सम्बन्ध-युक्त योगकारक पापग्रहों की दशा अत्यन्त अशुभ फल देती है।

(११) शुभग्रह के साथ सम्बन्ध होने पर भी, उसकी अन्तर्दशा में मारक ग्रह मारक नहीं होता, किन्तु किसी पापग्रह की अन्तर्दशा काल में उसके साथ सम्बन्ध रखने पर भी मारक होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि किसी पापग्रह की अन्तर्दशा काल न आने पर, मारक दशा में प्राणी की मृत्यु प्रायः नहीं होती।

(१२) शुक्र और शनि आपस में दशा एवं अन्तर्दशा काल में—एक दूसरे के विपरीत शुभाशुभ फल देते हैं।

दशाफल के विचार में, साधारण रीति से, अन्तर्दशा पति ही प्रधान माना गया है। शुक्र की दशा में शनि की अन्तर्दशा उपस्थित होने पर, शनि शुक्र का ही शुभाशुभ-फल देता है। उसी प्रकार शनि दशा में शुक्र अपने अन्तर में शनि का फल विशेष रूप से देता है।

(१३) यदि लग्न स्वामी दशम स्थान में एवं दशम स्वामी लग्न में बैठा हो तो इस राजयोग में उत्पन्न प्राणी विख्यात और विजयी होता है।

(१४) धर्म और कर्म के स्वामी आपस में एक दूसरे के स्थान में बैठे हों तो यह राजयोग भी प्राणी को

विश्व प्रसिद्ध, विजयी, सब प्रकार के ऐश्वर्य और सुख से पूर्ण करता है।

पहले जो केन्द्र और त्रिकोण के सम्बन्ध से राजयोग कहे गये हैं, उनमें यह दोनों राजयोग प्रधान और बहुत ही विशिष्ट माने गये हैं॥

* लघुपाराशरी का हिन्दी-भावानुवाद समाप्त *

परिशिष्ट

१—पराशर ने मारक के निर्णय में जैमिनिसूत्र की तरह व्यवस्था करके अल्प, मध्य और दीर्घ के भेद से तीन प्रकार की आयु की स्थूल वर्ष संख्या ठहराई है। ३२।६४ और १००।१०० के ऊपर उत्तमायु भी लिखी है। इसका विचार—

जन्मनक्षत्र से आरम्भ करके ९ नक्षत्र क्रम से जन्म, संपत्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, वध, मित्र और अधिमित्र इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आगे फिर इसी क्रम से नाम हैं, इस प्रकार २७ नक्षत्र तीन बारी में पूरे हुए और प्रत्येक नाम के ३ नक्षत्र सिद्ध हुए। जो प्राणी अल्पायु योग में जन्म लेता है, उसकी मृत्यु विपत् तारा के स्वामी की दशा में, प्रत्यरि ताराधीश की दशा में मध्यायु की और वध ताराधीश की दशा में दीर्घायु की मृत्यु मानी है। किसी के मत से विपत्, प्रत्यरि और वध नक्षत्र में चन्द्रमा की स्थिति होने पर क्रम से तीनों प्रकार की आयुवालों की मृत्यु होती है।

उक्त तीनों आयु अल्प-मध्य-दीर्घ इन तीन भेदों में विभक्त है, अर्थात्—

१—अल्पायु = अल्प, मध्य, दीर्घ।
२—मध्यायु = अल्प, मध्य, दीर्घ।
३—दीर्घायु = अल्प, मध्य, दीर्घ।

इस प्रकार, नव प्रकार के भेद माने गये हैं। अर्थात् अल्पायु में फिर, अल्प, मध्य और दीर्घ के भेदों से निश्चय करना होता है। यदि अल्पायु निश्चित हुई और उस समय किसी मारकेश की दशा, या, मारक स्थान-स्थित किसी पापग्रह की दशा अथवा, मारकेश के साथ चार प्रकार के सम्बन्धों में कोई सम्बन्ध रखने-वाले की दशा उपस्थित हो तो, उस समय उस प्राणी की मृत्यु निश्चित समझनी चाहिए। इसी प्रकार मध्यायु और दीर्घायु निश्चित होने पर विचार करना। यह भी जानना चाहिए कि उक्त रीति से मध्यायु सिद्ध हो जाय तो अल्पायु काल में मारक की दशा आने पर भी उस प्राणी की मृत्यु न हो सकेगी।

२—यदि लग्नेश्वर रवि का शत्रु हो तो प्राणी अल्पायु होता। सम में मध्य और मित्र होने पर दीर्घायु होता है। रवि प्राणी का आत्मा स्वरूप और लग्नेश्वर उसका देह है। देह और आत्मा की प्रीति से दीर्घ, सम अर्थात् उदासीनता में मध्य एवं शत्रुता में अल्पायु जाननी चाहिए। अर्थात् लग्नाधीश की स्थिति पर निर्भर है। ग्रहों की मैत्री नैसर्गिक और तात्कालिक दो प्रकार की मानी है। जो ग्रह दोनों प्रकार से मित्र हों वे अधिमित्र एवं शत्रु हों तो अधिशत्रु कहे जाते हैं। यदि नैसर्गिक सम तात्कालिक मित्र हों तो मित्र, एवं तात्कालिक शत्रु होने पर शत्रु माना जाता है। दो ग्रह नैसर्गिक मित्र, किंतु तात्कालिक शत्रु अथवा, नैसर्गिक शत्रु किन्तु तात्कालिक मित्र होने पर 'सम' कहा गया है। इस प्रकार, मित्र, सम और शत्रु प्रत्येक दो प्रकार से विभक्त होंगे। अब, यदि लग्नेश्वर रवि का मित्र होने से जिस परिमाण से आयु देगा, अधिमित्र होने पर उससे अधिक आयुदाता सिद्ध होगा। ऐसे ही सम और शत्रु भाव में भी जानना चाहिए। इस प्रकार सुश्लोकशतक में लिखा है।

३—जैमिनिसूत्र में आयु का निर्णय संक्षेप में इस प्रकार है—मेष, कर्क, तुला और मकर चर राशि हैं। वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ स्थिर राशि हैं। मिथुन, कन्या, धनु और मीन द्विस्वभाव राशि हैं। 'आयुः पितृदिनेशाभ्याम्' इस सूत्र के अनुसार कटपयादि संज्ञा से लग्नेश और अष्टमेश से विचार होता है। यदि दोनों चर राशि में या, एक स्थिर में, दूसरा द्विस्वभाव में हो तो दीर्घायु योग होता है। यदि दोनों द्विस्वभाव में हों या, एक चर में, दूसरा स्थिर में हो तो मध्यायु योग होता है। यदि दोनों स्थिर में हों या, एक चर में, दूसरा द्विस्वभाव में हो तो अल्पायु योग होता है। इस प्रकार दीर्घ, मध्य एवं अल्प आयु का निर्णय करने बाद, फिर 'एवं मन्दचन्द्राभ्याम्' 'पितृकालतश्च' इन दोनों सूत्रों के अनुसार शनि और चन्द्र एवं लग्न और होरा लग्न से भी दीर्घ, मध्य और अल्प का निश्चय करना। इन तीनों विधियों से तीन या, दो से एक प्रकार की दीर्घ आदि सिद्ध हो तो उसी को दृढ़ करना क्योंकि 'संवादात् प्रामाण्यम्' सूत्र लिखा है। परन्तु यदि तीनों से तीन प्रकार की आयु सिद्ध हो तो 'विसंवादे पितृकालतः' इस सूत्र से लग्न एवं होरालग्न से विचार करने पर जो सिद्ध हो उसी को मान लेना। किन्तु लग्न या, सप्तम में यदि चन्द्रमा बैठा हो तो लग्न और होरा लग्न से सिद्ध आयु को न मानकर लग्न और चन्द्र से जो सिद्ध हो उसको मानना क्योंकि सूत्र है—'पितृलाभगे चन्द्रे चन्द्रमन्दाभ्याम्।' इस प्रकार छान-बीन करने बाद, जो आयु पक्की ठहरे उसमें कक्षा-ह्रास-वृद्धि की योजना को लगाना। जैमिनि-मत से अल्पायु का मान ३२ वर्ष है, इसी वर्ष को कक्षा (क्षया) कहते हैं। इस अल्पायु में एक कक्षा वृद्धि होने पर ६४ वर्ष मध्यायु का मान और तीन वृद्धि से ९६ वर्ष पूर्णायु का मान माना गया है।

यदि आयुयोगकारक शनि हो तो 'शनौ योगहेतौ कक्षा-ह्रासः ।' इस स्थिति में उक्त वर्ष संख्या की कमी होने से दीर्घायु मध्य, मध्यायु अल्प, एवं अल्पायु होने पर बाल्यकाल में ही मृत्यु हो जाती है । किन्तु 'न स्वर्क्षतुङ्गगे सौरे केवलपाप-दृग्योगिनि च ।' अर्थात् शनि स्वक्षेत्री किंवा उच्च में हो तो कक्षा ह्रास नहीं होता । अथवा, शनि शुभ दृष्टि या, योग से रहित हो कर केवल पापग्रह युक्त या, दृष्ट होने से भी कक्षा ह्रास नहीं करता । लग्नेश किंवा अष्टमेश न होने पर, शनि कक्षा ह्रास नहीं करता ।

अब कक्षावृद्धि की कथा जाननी चाहिए । सूत्र है--'पितृलाभगे गुरौ केवलशुभदृग्योगिनि च कक्षावृद्धिः ।' अर्थात् बृहस्पति लग्न या, सप्तम में बैठा हो तो कक्षा ३२ वर्ष की आयु में वृद्धि करता है । बृहस्पति उक्त दोनों स्थानों के सिवाय दूसरे स्थान में बैठा हो और केवल शुभ ग्रह से युक्त या, दृष्ट हो, किसी पापग्रह से युक्त किंवा दृष्ट न हो तो भी कक्षावृद्धि करता है । अर्थात् अल्पायु मध्यायु में, मध्यायु दीर्घायु में परिणत हो जाती है और दीर्घायु भी उत्तमायु को पहुँच जाती है ।

इस प्रकार पूर्ण विचार के बाद आयुःस्पष्ट का गणित करना चाहिए । महामहोपाध्याय श्री ६ दुर्गाप्रसाद द्विवेदीकृत 'जैमिनि पद्यामृत' के पाँचवें प्रवाह में, उक्त प्रत्येक विषयों का मतान्तरों और सोदाहरण के साथ विस्तृत विचार किया गया है । जिज्ञा-सुओं को उक्त ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिए । पहले एक सूत्र लिखा गया है 'एवं मन्दचन्द्राभ्याम् ।' इसमें कट पय क्रम से मन्द=लग्न=१ परन्तु 'मन्द' का अर्थ शनि विद्वानों को अधिक मान्य है । प्रकरणवश अर्थ की संगति सदा सर्वत्र मान्य होती आई है ।

वराहमिहिर के समय से दशा और आयु के निर्णय में विविध संप्रदायों का आविर्भाव हुआ और बृहत्, वृद्ध के भेद से पराशर के वचनों की ऐसी खींचा-तानी हुई है कि कोई मत ही स्थिर न हो पाया और भ्रान्ति का साम्राज्य फैल गया। उधर यामलोक्त मतों ने भी धक्का लगाया। आर्ष एवं पौरुष मत खिचड़ी हो गये।

४—यहाँ आयु स्पष्ट के प्रसङ्ग में होरालग्न की चर्चा आई है, उसका साधन उक्त 'जैमिनिपद्यामृत' में इस प्रकार है:—

'जन्मेष्टकालो नयनामृतांशुभि-(१२)
स्तर्कै (६) र्नभोवह्निभि (३०) राहतः क्रमात्।
फलैर्लवाद्यैश्च युतोऽर्यमा भवे-
द्धोरातनुर्भावतनुर्घटीतनुः॥'

(जै० प० १ प्रवाह, श्लो० ३१)

जन्म का इष्ट घट्यादि ३०।२६ इसको १२ से गुणकर अंशादि किया ३७१।४८ अंश में ३० का भाग देने पर राश्यादि फल =०।११।४८ इसको तात्कालिक सूर्य ७।२६।२१।२४ में जोड़ने से राश्यादि होरालग्न =८।११।३६।२४ ऊपर जो राश्यादि फल सिद्ध हुआ है, इसको सदा सूर्य में जोड़ना ही चाहिए। जन्म लग्न के सम किंवा विषम होने से सूर्य में क्रम से जोड़ने-घटाने का नियम किसी ने मन से गढ़ लिया है, वह व्यर्थप्रपञ्च है। देखो, पद्यामृत १ प्रवाह श्लो० ३२।३३।

५—सुश्लोकशतक के अन्त में—'वर्गाष्टकभवं चायुः' श्लोक से प्रकट किया है कि आयु विचार में अरिष्ट ग्रह की दशा अर्थात् मृत्यु का समय आनेवाला हो तो अष्टवर्ग से अरिष्ट का विचार करना चाहिए। परन्तु इस समय प्रायः जन्मकुण्डली में अष्टवर्ग चक्र ही लगाना बन्द हो गया है। अष्टवर्ग और गोचर दोनों के सत्य-फल हैं और उपनयनादि संस्कारों में इनका प्राधान्य धर्म-

शास्त्र में भी मान्य है। वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' में जो अष्टवर्ग का स्वरूप दिया है, उसमें परवर्ती 'होरारत्न' कर्ता बलभद्रमिश्र, 'सर्वार्थचिन्तामणि' कर्ता और जातकपारिजात कर्ता आदि महा फलितज्ञों ने, पराशर के वचनाधार पर 'अष्टवर्ग-शोधन' करने के लिए (१) त्रिकोण-शोधन (२) एकाधिपत्य-शोधन नामक दो प्रकारों का प्रयोग किया है और अपनी अपनी खिचड़ी पकाई है। इस प्रकार शोधित अष्टवर्गों के चक्र का दूसरा स्वरूप और उसके आधार पर ग्रहों को प्राप्त रेखाओं की संख्या के अनुसार, शुभाशुभ फल की स्थापना आदि दिखलाई है । (देखो-कर्मवीर प्रेस, जबलपुर से प्रकाशित 'ज्योतिर्विवेकरत्नाकर' १ भाग 'अष्टवर्ग-विवेक' पृ. ३८१-४०५)।

इस अष्टवर्ग की गणना में सातों ग्रह और लग्न का उपयोग है। जन्मकाल में जिस राशि का उदय है वही जन्मलग्न है । जन्म स्थान और लग्नों के उदय भेद से यह फल प्राणियों को अनेक रूप में प्राप्त होता है । यह सूक्ष्म है । गोचर फल का विषय संहिता से सम्बन्ध रखता है । उसकी गणना में जन्मकालिक चन्द्रराशि के सिवाय अन्य ग्रहों की राशि का प्रयोजन नहीं। जिनकी जन्मराशि एक है उनके लिए फल भी एक ही है । पर यह असंभव है । वास्तव में इससे पृथिवी के समस्त मानवीय भाग्य (अस्थिर वा, औत्पातिक) बारह भागों में बाँट दिया गया है—इसी लिए यह गणना स्थूल है । बृहज्जातक में मनस्तु-हिनगुः' लिखा है । मन की प्रधानता में लौकिक-पारलौकिक कार्य किये जाते हैं, जन्मकालिक चन्द्रराशि प्राणियों के जीवन में, मानसिक कार्यों की सफलता एवं असफलता का लक्ष्य कराती है। इसी ध्यान से ऋषियों ने एक मार्ग दिखा दिया है।

अष्टवर्ग के द्वारा गोचर फल जानने के लिए नीचे दो श्लोक दिये जाते हैं—

'कष्टं स्यादेकरेखायां द्वाभ्यामर्थक्षयो भवेत् ।
त्रिभिः क्लेशं विजानीयात् चतुर्भिः समतां वदेत् ॥
पञ्चभिश्च वदेत् सौख्यं, षड्भिश्चैव धनागमः ।
सप्तभिः परमानन्दं, अष्टभिः सर्वसंपदम् ॥'

शुभ या, अशुभ फल प्रकट करने के लिए-रेखा का चिह्न देते हैं, शून्य भी लिखते हैं, पर दोनों में कोई विशेष नहीं । ऊपर जो श्लोक हैं, उनसे स्पष्ट है कि १-४ तक जो ग्रह रेखा पाते हैं वे अशुभ और उसके आगे ५-८ तक शुभ फल की वृद्धि करनेवाले होते हैं ।

फलित के व्यवसायी और विद्यार्थियों को इस विषय पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

विंशोत्तरी महादशायामन्तरचक्राणि ।

सूर्यदशा वर्ष ६			
कृ. उ. फा. उ. षा.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
सू.	०	३	१८
चं.	०	६	०
भौ.	०	४	६
रा.	०	१०	२४
बृ.	०	९	१८
श.	०	११	१२
बु.	०	१०	६
के.	०	४	६
शु.	१	०	०

चन्द्रदशा वर्ष १०			
रो. ह. श्र.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
चं.	०	१०	०
भौ.	०	७	०
रा.	१	६	०
बृ.	१	४	०
श.	१	७	०
बु.	१	५	०
के.	०	७	०
शु.	१	८	०
सू.	०	६	०

भौमदशा वर्ष ७			
मृ. चि. ध.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
भौ.	०	४	२७
रा.	१	०	१८
बृ.	०	११	६
श.	१	१	९
बु.	०	११	२७
के.	०	४	२७
शु.	१	२	०
सू	०	४	६
चं.	०	७	०

राहुदशा वर्ष १८			
आर्द्रा स्वा. शत.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
रा.	२	८	१२
बृ.	२	४	२४
श.	२	१०	६
बु.	२	६	१८
के.	१	०	१८
शु.	३	०	०
सू.	०	१०	२४
चं.	१	६	०
भौ.	१	०	१८

गुरुदशा वर्ष १६			
पुन. वि. पू. भा.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
बृ.	२	१	१८
श.	२	६	१२
बु.	२	३	६
के.	०	११	६
शु.	२	८	०
सू.	०	९	१८
चं.	१	४	०
भौ.	०	११	६
रा.	२	४	२४

शनिदशा वर्ष १९			
पुष्य अनु. उ. भा.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
श.	३	०	३
बु.	२	८	९
के.	१	१	९
शु.	३	२	०
सू.	०	११	१२
चं.	१	७	०
भौ.	१	१	९
रा.	२	१०	६
बृ.	२	६	१२

बुधदशा वर्ष १७			
आश्ले. ज्ये. रे.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
बु.	२	४	२७
के.	०	११	२७
शु.	२	१०	०
सू.	०	१०	६
चं.	१	५	०
भौ.	०	११	२७
रा.	२	६	१८
बृ.	२	३	६
श.	२	८	९

केतुदशा वर्ष ७			
म. मू. अश्वि.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
के.	०	४	२७
शु.	१	२	०
सू.	०	४	६
चं.	०	७	०
भौ.	०	४	२७
रा.	१	२	१८
बृ.	९	११	६
श.	१	१	९
बु.	०	११	२७

शुक्रदशा वर्ष २०			
पू. भा. पू. षा. भ.			
अन्तर्दशा			
ग्र.	व.	मा.	दि.
शु.	३	४	०
सू.	१	०	०
चं.	१	८	०
भौ.	१	२	०
रा.	३	०	०
बृ.	२	८	०
श.	३	२	०
बु.	२	१०	०
के.	१	२	०

योगिन्यन्तर्दशाचक्राणि ।

मंगला द.व. १			
अन्तर्दशा			
यो.	व.	मा.	दि.
मं.	०	०	१०
पिं.	०	०	२०
धा.	०	१	०
भ्रा.	०	१	१०
भ.	०	१	२०
उ.	०	२	०
सि.	०	२	१०
सं.	०	२	२०

पिंगला द. व. २			
अन्तर्दशा			
यो.	व.	मा.	दि.
पिं.	०	१	१०
धा.	०	२	०
भ्रा.	०	२	२०
भ.	०	३	१०
उ.	०	४	०
सि.	०	४	२०
सं.	०	५	१०
मं.	०	०	२०

धान्या द.व. ३			
अन्तर्दशा			
यो.	व.	मा.	दि.
धा.	०	३	०
भ्रा.	०	४	०
भ.	०	५	०
उ.	०	६	०
सि.	०	७	०
सं.	०	८	०
मं.	०	१	०
पिं.	०	२	०

भ्रामरीद.व. ४			
अन्तर्दशा			
यो.	व.	मा.	दि.
भ्रा.	०	५	१०
भ.	०	६	२०
उ.	०	८	०
सि.	०	९	१०
सं.	०	१०	२०
	०	१	१०
पिं.	०	२	२०
धा.	०	४	०

भद्रिका द. व. ५				उल्का द. व. ६				सिद्धा द. व. ७				संकटा द. व. ८			
अन्तर्दशा				अन्त र्दशा				अन्तर्दशा				अन्तर्दशा			
यो.	व.	मा.	दि.	यो.	व.	मा.	दि.	यो.	व.	मा.	दि.	यो.	व.	मा.	दि.
भ.	०	८	१०	उ.	१	०	०	सि.	१	४	१०	सं.	१	९	१०
उ.	०	१०	०	सि.	१	२	०	सं.	१	६	२०	मं.	०	२	२०
सि.	०	११	२०	[illegible]	१	४	०	मं.	०	२	१०	पिं.	०	५	१०
सं.	१	१	१०	मं.	०	२	०	पिं.	०	४	२०	धा.	०	८	०
मं.	०	१	२०	पिं.	०	४	०	धा.	०	७	०	आ.	०	१०	२०
पिं.	०	३	१०	धा.	०	६	०	आ.	०	९	१०	भ.	१	१	१०
धा.	०	५	०	आ.	०	८	०	भ.	०	११	२०	उ.	१	४	०
आ.	०	६	२०	भ.	०	१०	०	उ.	१	२	०	सि.	१	६	२०

जैमिनिमतेनायुर्बोधकचक्रम् ।

दीर्घदीर्घम् १२० चरे लग्नेशः चरेऽष्टमेशः	मध्यदीर्घम् १०८ स्थिरे लग्नेशः द्विस्वभावेऽष्टमेशः	हीनदीर्घम् ९६ द्विस्वभावे लग्नेशः स्थिरेऽष्टमेशः
दीर्घमध्यम् ८० चरे लग्नेशः स्थिरेऽष्टमेशः	मध्यमध्यम् ७२ स्थिरे लग्नेशः चरेऽष्टमेशः	हीनमध्यम् ६४ द्विस्वभावे लग्नेशः द्विस्वभावेऽष्टमेशः
दीर्घहीनम् ४० चरे लग्नेशः द्विस्वभावेऽष्टमेशः	मध्यहीनम् ३६ स्थिरे लग्नेशः स्थिरेऽष्टमेशः	हीनहीनम् ३२ द्विस्वभावे लग्नेशः चरेऽष्टमेशः

म० म० श्रीदुर्गाप्रसाद द्विवेदी

और

श्रीगिरिजाप्रसाद द्विवेदी द्वारा

संपादित पुस्तकें--

१—लीलावती	(द्वितीय संस्करण)	...	२॥)
२—बीजगणित	(तृतीय संस्करण)	...	२॥)
३—क्षेत्रमिति	(चतुर्थ संस्करण)	...	१)
४—पञ्चाङ्गतत्त्व	....	...	।)
५—मनुस्मृति	... ...	...	२)
६—याज्ञवल्क्यस्मृति	... ...	...	।॥)
७—चातुर्वर्ण्यशिक्षा	... ...	...	३)
८—ईश्वर भक्ति	... ...	...	⁃)
९—महिम्न स्तोत्र सटीक	... ...	...	।)
१०—मेघदूत (काव्य) सटीक	...	...	॥=)

पुस्तकों के मिलने का पता—

मैनेजर, नवलकिशोर-प्रेस बुकडिपो,

हज़रतगंज, लखनऊ.